UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180166

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 923.254 M 23 M   Accession No. G.H. 3141

Author मालवीय, पद्माकांत सं.

Title मालवीयजी जीवन झलकियाँ १९५२

This book should be returned on or before the date last marked below.

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार की ओर से भेंट

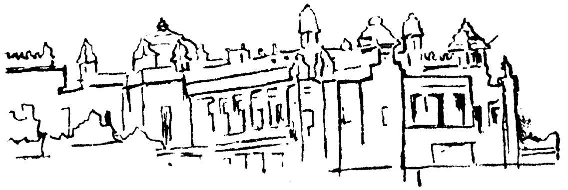

मालवीयजी

जीवन झलकियाँ

मालवीयजी

जीवन झलकियाँ

सम्पादक
पं० पद्मकान्त मालवीय

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
कार्यालय : २६ ए, जवाहरनगर
बिक्री-केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण
मई, १९६२

कलापक्ष
मन्दाकिनी

मूल्य
आठ रुपये

मुद्रक
पुरी प्रिंटर्स
नई दिल्ली ।

महामना मालवीयजी के प्रति विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उद्गार

(१)

देश देश नन्दित करि मन्द्रित तब भेरी।
आमिल जाता बीर वृन्द आशन तब घेरी॥
दिन आगत ओई, भारत तबउ कोई ?
से की रहिल लुप्त आजि, सब जन पश्चाते ?
लोक विश्व कर्म भार, मिलि सबार साथे।
प्रेरन कर भैरब तब दुर्जय आह्वान हे !
जागृत भगवान हे !

आपकी भेरी ने देश-देश को उल्लसित कर दिया है। वीरगण आपके आसन को घेर कर खड़े हुए हैं। पर भारत कहाँ है ? क्या वह सबके पीछे लुप्त रह गया ? हे जागृत भगवान् ! भारत आज सबके साथ मिलकर विश्व का कार्य-भार उठा ले। आपकी दुर्जय पुकार सुन कर हृदय इस कार्य की ओर अग्रसर हो !

(२)

विघ्न विपद दुःख दहन तुच्छ करिल जारा।
मृत्यु गहन पार होइलो, छुटिल मोह कारा॥
दिन आगत ओई, भारत तबउ कोई ?
निश्चल निर्वीर्यि बाहु, कर्म कीर्ति हीने।
व्यर्थ शक्ति निरानन्द, जीवन धन दीने॥
प्रान दाओ, प्रान दाओ, दाओ दाओ प्रान हे !
जागृत भगवान हे !

जो बाधा-विपत्ति, सुख-दुःख की चिन्ता किये बिना मृत्यु-नदी के पार और मोह का त्याग कर आपके पास पहुँचे हैं, उनके साथ भारत क्यों नहीं दिखलायी देता ? वह दीन भारत, कि निश्चल, निर्वीर्य, कार्य-कीर्ति-हीन और व्यर्थ-शक्ति तथा निरानन्द है, हे जागृत भगवान्, उसे प्राणदान दो !

(३)

नूतन जुग सूर्य उठिल, छुटिल तिमिर रात्री।
तब मन्दिर आँगन भरि, मिलिल सकल जात्री॥
दिन आगत ओई, भारत तबउ कोई ?
गत गौरव हत आसन, नत मस्तक लाजे।

ग्लानि तार मोचन कर, नर समाज माझे।
स्थान दाओ, स्थान दाओ, दाओ दाओ स्थान हे !
जागृत भगवान हे !

नूतन युग का प्रकाश आ गया। रात्रि का अन्धकार भी छँट गया। आगे जाने वाले यात्रियों का समय आ पहुँचा, लेकिन उनमें भारत नहीं दिखलायी देता। आज भारत का गौरव लुप्त हो गया, उसका आसन छिन गया, और लज्जा से वह नत-मस्तक है। हे जागृत भगवान् ! उसकी ग्लानि मिटाकर उसे स्थान देने की कृपा करें !

(४)

जन गन पथ तब जय-रथ चक्र मुखर आजि।
स्पंदित करि दिग्‌दिगंत, उठिल शंख बाजि ॥
दिन आगत ओई, भारत तबउ कोई ?
दैन्य जीर्ण कक्ष-तार, मलिन शीर्ण आशा।
त्रास रुद्ध चित्त-तार, नाहिं नाहिं भाषा ॥
कोटि मौन कंठ पूर्ण वाणी कर दान हे !
जागृत भगवान हे !

आपके जन-गण-पूर्ण जय-रथ-चक्र की ध्वनि से पथ गूँज उठा है और शंख-ध्वनि से आकाश, पाताल तथा पृथ्वी काँप उठे हैं। वह दिन अब आ गया है। किन्तु भारत कहाँ है ? उसका घर दीन, जीर्ण, उसकी आशा और मान शीर्ण, तथा हृदय भयभीत है। उसके मुख से बोल नहीं निकल रहा है। हे जागृत भगवान् ! आज कोटि-कोटि मौन कण्ठों को अपनी वाणी का दान दो !

(५)

जारा तब शक्ति मिलल निज अन्तर माझे ।
बर्जिल भय, अर्जिल जय, सार्थक ह'ल काजे ॥
दिन आगत ओई भारत तबउ कोई ?
आत्म अविश्वास तार नाश कठिन घाते ।
पुञ्जित अवसाद भार हान अशनि पाते ॥
छाया भय चकित मुन्छ करइ परित्रान हे ।
जागृत भगवान हे !

जिन्होंने अपने हृदय में शक्ति-लाभ किया, वे भय का नाश कर जय और सफलता प्राप्त करें ! आज वह दिन आ गया । पर भारत कहाँ है ? उसके हृदय में अपने प्रति अविश्वास और ग्लानि है और उसने भयभीत होकर अपने को क्षुब्ध बना लिया है । हे जागृत भगवान् ! आज इस अवस्था का नाश कर उसे मुक्ति दान देने की कृपा करें !

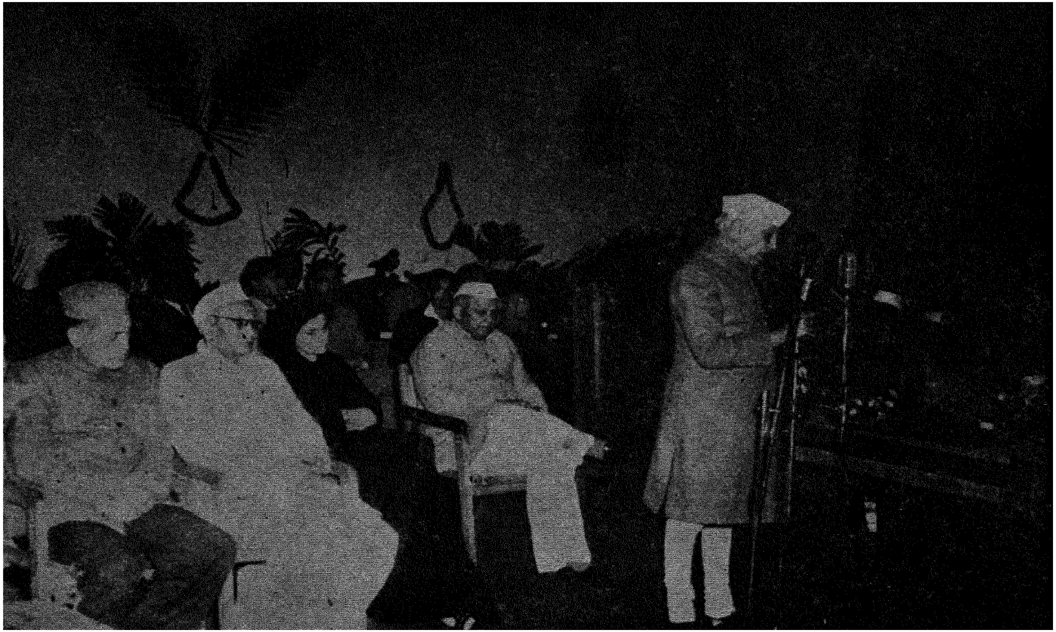

प्रयाग में महामना-जन्मशती समारोह की सभा में भाषण करते हुए प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल जी नेहरू। दाहिने से दूसरे इस पुस्तक के संग्रहकर्ता पं० पदम कांत मालवीय तथा श्रीमती इन्दिरा गांधी।

महामना मालवीयजी

मालवीयजी का जन्म-दिवस हमारे देश के लिए एक शुभ दिन है। हम लोगों के लिए विशेषकर, जो प्रयाग नगर के निवासी हैं। आज एक पिछला गुजरा हुआ जमाना मेरी आँखों के सामने आता है, खासकर वह जमाना जब मैं थोड़ी-बहुत पढ़ाई करके इलाहाबाद वापस आया था। यों तो बहुत बचपन से, अब तो ठीक याद भी नहीं कि कब से, पूज्य मालवीयजी को दूर से मैं देखता रहा हूँ, वैसे ही जैसे बच्चे देखते हैं बड़ों को। वे मुझ से प्रेम करते थे और मैं उनका आदर करता था। फिर एक जमाना गुजरा और मैं बाहर रहा। भारत वापस आया तो बहुत बातों में लग गया। राजनैतिक बातों में भी लगा। उस समय जवानी का जोर था, जोश था। मुझे याद है कि उन दिनों मैं यहाँ भारती-भवन में अक्सर उनके पास जाता था। मेरे मन में शंकाएँ थीं, परेशानी थी कि क्यों कुछ नहीं होता, लोग ढीले क्यों पड़ जाते हैं। मैं उनसे पूछता था और वे मुझे समझाते थे। कुछ समझ में भी आता था, फिर भी दिमाग़ परेशान रहता था। यह परेशानी आम तौर से थी। हिन्दुस्तान की हालत कुछ ठीक नहीं मालूम होती थी। ठीक थी भी नहीं। विशेषकर मुझे वे दिन याद हैं जब मैं शुरू-शुरू में उनके पास जाता था—कभी अकेला, कभी किसी और के साथ। उनसे यहाँ का कुछ राजनैतिक हाल जानने की कोशिश करता था। फिर मैं स्वयं इन बातों में पड़ा और उनसे मिलने के अनेक अवसर मिले। फिर दुनिया की पहली बड़ी लड़ाई का ज़माना आया। हमारे यहाँ का राजनैतिक काम और ठंडा हो गया; क्योंकि दुनिया की लड़ाई चल रही थी। कुछ ध्यान उधर जाता था कि दुनिया का अब क्या होगा। इसी लड़ाई के दौरान में फिर कुछ नयी-नयी बातें हुईं और फिर

महामना के जन्म शती-समारोह के अवसर पर प्रयाग में प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू की श्रद्धाञ्जलि

से हल्के-हल्के हिन्दुस्तान उठा और हवा बदलने लगी। शायद बाज़ लोगों को याद हो वह ज़माना, जब लोकमान्य तिलक ने एक होमरूल लीग शुरू की थी और एक श्रीमती एनी बेसेण्ट ने। हमारी संस्था कांग्रेस भी, जिसके सबसे पुराने और बड़े नेता पूज्य मालवीयजी थे, कुछ जागने लगी थी।

लड़ाई खत्म हुई और दूसरी बातें सामने आयीं। थोड़े ही दिनों बाद पंजाब का हत्याकांड हुआ। मार्शल-ला वग़ैरह का ज़माना। और उसमें मालवीयजी का एक बहुत बड़ा हिस्सा रहा—यानी उसकी तहक़ीक़ात में, जाँच-पड़ताल में और उनको सहायता करने में। उस समय उनके साथ मुझे बहुत काम करने का मौक़ा मिला। लाहौर में, पंजाब में, अमृतसर में, और कुछ शिमला में भी; जहाँ उस समय पुरानी इम्पीरियल कौंसिल की मीटिंग होती थी। मालवीय जी को दूर से तो बहुत दिनों से जानता था। यहाँ पास से बहुत-कुछ जानने का मौक़ा मिला। उन्होंने हमेशा बहुत मुहब्बत और प्रेम से मुझे बातें बतलायीं, समझाया। कभी-कभी मैंने उनसे बहस करने की भी ज़ुर्रत की, उसको भी उन्होंने प्रेम से समझाने की कोशिश की। कभी-कभी मैं उनसे पूरी तरह से सहमत नहीं हो पाता था, लेकिन उनका समझाने का तरीक़ा मीठा था। उनका तरीक़ा ही मीठा था और प्रेम करने का। उसका एक ज़बर्दस्त असर होता था, चाहे कोई उनकी किसी बात से सहमत हो या न हो। उसके बाद असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ और तरह-तरह की बातें हुईं। गांधीजी मैदान में आये। लेकिन इस सारे ज़माने में भी मालवीयजी का असर महज इलाहाबाद पर ही नहीं, सारे भारत की राजनीति पर बहुत जबर्दस्त रहा।

कभी-कभी हम, उस समय के नौजवान, बावजूद उनके प्रति अपनी मुहब्बत के, उनसे कुछ शिकायत करते थे। शिकायत यही कि हमारी राय में उस वक्त वे धीमे चलते थे। यह तो हमारी, क्या कहूँ, अपनी जवानी का एक जोश था कि हम समझते थे कि जो हमारी बात को पूरी तरह से मंजूर न करे, वह धीमा है। खैर, कांग्रेस जब से शुरू हुई, वह हमारे राजनैतिक आन्दोलन की एक खास निशानी रही है। उसे शुरू करने में, बनाने में और बढ़ाने में मालवीयजी का एक बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। इसमें कोई शक नहीं कि समय की हवा देख कर, वायुमंडल को देखते हुए, भारतीय राजनीति में मालवीयजी अगुआ भी रहे और एक कड़ी भी रहे जोड़ने की—उन लोगों को, जो कांग्रेस में आगे-पीछे

गिने जाते थे, यानी गरम और नरम दल वालों को। उनका स्वभाव ही बहुत विरोध करने का नहीं था। यह तो एक बहुत ही ऊँचे दरजे की बात है कि वे अपनी राय पक्की रखते हुए भी मिलकर रहते थे और दूसरों को मिलाने की कोशिश करते थे।

फिर वो ज़माना आया, जब उनसे अक्सर ही मेरा मिलना-जुलना होता रहा। इस तरह की सब तस्वीरें आज हमारे सामने आती हैं और मैं देखता हूँ कि इन सब वर्षों में उनका कितना बड़ा हाथ रहा है हमारी राजनीति को ढालने में। यह तो हुई हमारी राजनीति की बात, जो अपने में खुद भी बड़ी बात है। दूसरी बड़ी बात थी उनका हमारी पुरानी संस्कृति की ओर एक खास झुकाव। उसको बढ़ाने की वे हर वक्त कोशिश करते थे और उसकी निशानियाँ तो आपको हर जगह मिलेंगी, इलाहाबाद में, बनारस में और और-और जगह भी। उस समय की हालत ही कुछ ऐसी थी। वे जो बातें कहते थे, मेरी राय में बहुत सही थीं, लेकिन उनपर भी बहसें हुईं और वह बहस जारी रही। कभी भाषा के मामले में, कभी कुछ और मामलों में। लेकिन मालवीयजी किसी भाषा के विरोधी नहीं थे। वे चाहते थे कि हिन्दी और संस्कृत की यहाँ तरक़्क़ी हो भारत में, और यह एक बहुत ठीक बात थी। वे जो बात करने की कोशिश करते थे, बिना किसी का विरोध किये हुए। विरोध करने का सवाल ही नहीं है। विद्या और इल्म का विरोध नहीं होता; बल्कि वह तो एक धन-दौलत है जो हमको ऊँचा करती है; और जितनी ही अधिक हो, उतना ही अच्छा! अपने देश की तो अवश्य और दूसरे देशों को भी हो तो और भी अच्छा। इससे हम बढ़ते हैं।

उस समय के हमारे जो राजनैतिक नेता थे वे तरह-तरह के थे। यह ज़माना ऐसा था कि हमारे देश में काफ़ी बड़े आदमी हुए। एक ख़ास ज़माना था जब बहुत बड़े आदमी हुए सारे देश के हिस्सों में। उनमें से अधिकतर कांग्रेस की ओर खिंचे। कुछ बाहर भी रहे। हर तरह के लोग थे और वे एक-से नहीं थे। अलग-अलग उनकी बातें थीं, अलग-अलग मज़मून थे। लेकिन उस समय के उन बड़े नेताओं में प्राचीन संस्कृति की ओर सबसे अधिक ध्यान मालवीयजी का रहा। यह एक अच्छी बात थी। यों भी अच्छी होती, लेकिन उस समय की स्थिति-विशेष में तो वह बहुत ही अच्छी थी; क्योंकि देश कुछ

भटक रहा था, भटक गया था। पहली बात तो यह कि हमारे लोगों में, बड़े-छोटे सभी में, अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की एक नयी जाति-सी क़ायम हो गई थी। क़ायम तो नहीं हुई थी, हो रही थी। हालाँकि राजनैतिक जीवन में हम अँगरेजी हुकूमत का मुक़ाबला करते थे, वह रोज़-बरोज़ सख्त होता जाता था। लेकिन अँगरेज़ी संस्कृति का, संस्कृति क्या अँगरेज़ियत का, उस ज़माने के हमारे नेताओं पर ज्यादा असर था। यह आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसा तो होना ही था। और देशों में भी ऐसा ही हुआ। खास अँगरेज़ी ही नहीं, सारे योरप में एक नया ढंग निकला था और उसके पीछे था नया ज़माना इण्डस्ट्रीज़ का, कारखाने का, विज्ञान का। और इसके जो नतीजे हुए, वे तो एक अच्छी चीज़ हुई थी और उसे अपनाने की हम कोशिश करते थे। लेकिन इसके अलावा भी ऊपरी चीज़ें हैं। थोड़े बड़े आदमी बड़ी बातों को देखते थे। और लोग तो छोटी बातों को ही देखते थे। मैं अँगरेज़ियत की बात कह रहा हूँ। तो मालवीय जी ने कोई विरोध इन बातों का भी नहीं किया था; हाँ, अपना सारा वज़न उन्होंने हिन्दुस्तानियत पर, भारतीयता पर डाला और तराज़ू के पलड़े को कुछ बराबर करने पर। उस समय भी बहुत सारे लोग थे, बड़े विद्वान् लोग थे, संस्कृति के बड़े पंडित लोग भी थे; पर जहाँ तक मेरा विचार है, राजनैतिक नेताओं में, बड़े नेताओं में मालवीयजी ही शायद इस मामले में सबसे आगे थे। वे रोकते थे अँगरेज़ियत की बाढ़ को, पर विरोध करके नहीं बल्कि अपने काम से, अपने विचारों से और कोशिश करते थे अपनी संस्कृति को बढ़ाने की।

इस सिलसिले में उनका सबसे बड़ा काम हुआ हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना। यह बड़ी भारी बात थी। विश्वविद्यालय के सामने उद्देश्य था, लक्ष्य था, आजकल के ज़माने के विज्ञान और विज्ञान की औलाद यानी टैक्नालॉजी, इण्डस्ट्री वगैरह को पुरानी भारतीय संस्कृति के साथ जोड़ना। एक मानी में यह सबसे बड़ा काम था भारत के लिए। अब भी है, क्योंकि यह एक-दो रोज़ का काम तो नहीं है। एक तरफ़ पुरानी भारतीय संस्कृति है जिसको हमें अच्छी तरह समझना चाहिए। आखिर हम लोग उसी में ढले हैं और भारत इन सैकड़ों-हजारों बरसों से उसके साये में पला है। उसका असर हमारे रगोरेशे में है। उसमें कुछ खराबियाँ पैदा हुईं। पुरानी संस्कृति में नहीं, उसके बदलते हुए ढंग में। सब पुराने लोगों में, सभी पुरानी क़ौमों में ये बातें आ

उसमें भी खराबियाँ आयीं, लेकिन जो चीज़ असली उसमें थी, वह खरा सोना था। वह तो बेश-क़ीमती था, और भारत के लिए उसे भूल जाना एक तरह से अपने को भूल जाना है। क्योंकि उसी मिट्टी में हम पैदा हुए और उसी से बने। उसे भूल जायँ तो हमारी कोई जड़ ही नहीं रहती, जो बहुत आवश्यक बात है। लेकिन उसी के साथ उतनी ही आवश्यक बात यह है कि हम आजकल की दुनिया को समझें। आजकल की दुनिया विज्ञान की है, अगर हम उसको नहीं समझते तो हम पिछड़ जाते हैं। उसको न समझने से हमारी आज़ादी चली गई। आज हमारे सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि हम उसको समझ कर अपने देश की आर्थिक स्थिति को बढ़ायें, और, उसे और अच्छा करें। तो, यदि आप इन दोनों पहलुओं को देखें, तो हमें दोनों की ही आवश्यवता महसूस होगी। हमारे देश के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। एक उसमें खाली हो और दूसरा न हो तो हम नहीं चल सकते, बढ़ नहीं सकते। अगर पहली बात न हो, यानी हम अपना पुराना ज़माना भूल जायँ, तो जैसा मैंने आपसे कहा, हम बेजड़ के हो जाते हैं, हम एक नक़ली लोग रह जाते हैं। नक़ल करके कोई क़ौम वहुत बढ़ती नहीं, और बातों को हर क़ौम को सीखना है, ज़रूर समझना है, ज़ोरों से सीखना है। क़ौमों के दरख़्त क़लम करके बहुत नहीं बढ़ते; साथ ही अगर हम खाली इसी बात पर विचार करें और आजकल की दुनिया, आजकल के विज्ञान-वग़ैरह को न समझें, तो हम आज की दुनिया में खप नहीं सकते, दुर्बल रहते हैं, कमज़ोर हो जाते हैं, अपनी आज़ादी को क़ायम नहीं रह सकते, अपने को खुशहाल नहीं बना सकते और हमारी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती। क्योंकि दुनिया है विज्ञान की, और विज्ञान सारे ज्ञान का एक हिस्सा है। विज्ञान ने आदमी को बड़ी-बड़ी शक्तियाँ दी हैं—दीं क्या हैं, ये शक्तियाँ तो प्रकृति की हैं; लेकिन विज्ञान प्रकृति को अपनाता है और इससे उसकी ताक़त बढ़ जाती है। इसलिए दोनों ही पहलू भारत को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक हैं। अगर इनमें से एक भी निकल जाता है तो यह एक पहिये की गाड़ी-जैसा हो जाता है।

मालवीयजी के सामने दोनों बातें थीं। बनारस विश्वविद्यालय के सामने उन्होंने दोनों लक्ष्य रखे, वही सवाल हम सब के सामने आज भी है। इन दोनों पहियों पर हिन्दुस्तान की गाड़ी तेज़ी से आगे चली। आज के नौजवान शिकायत करते हैं धीमी चाल की, जैसे हम नौजवान शिकायत करते थे कि ये पुराने

लोग तो ढीले-ढाले हैं। उनमें उतना जोश नहीं है, उतनी हिम्मत नहीं है जितनी हम में है। हर ज़माने में अपनी जवानी में लोग ऐसा ही समझते हैं। अगर आप उन लोगों के व्याख्यान पढ़ें जिन्होंने कांग्रेस शुरू की थी—चाहे दादाभाई नौरोजी के या और जो बड़े आदमी हुए या मालवीयजी के, तो कुछ आश्चर्य होता है कि कैसी धीमी आवाज़ से भाषण दिया करते थे ये लोग ! पर लोग भूल जाते हैं कि वह समय क्या था, आबोहवा क्या थी, जिसको बदलने की कोशिश हो रही थी। एक समय जो क्रान्ति हो, क्रान्ति के पीछे आवाज़ हो, कुछ दिनों बाद वही क्रान्ति मामूली बात हो जाती है और आवाज़ धीमी लगने लगती है। उसकी जाँच करने के लिए हमें देखना होता है कि उस समय की हालत क्या थी—तभी हम सही अन्दाज़ा कर सकते हैं। आजकल के समय का अन्दाज़ा करें दस-बीस-पचास बरस पुरानी बात से, इसके कोई मानी नहीं हैं; बात हमारी समझ में नहीं आयेगी। इस नक्शे को देखें फिर आप महसूस करें कि मालवीयजी ने कैसा नेतृत्व किया देश का, उनकी लीडरशिप कैसी थी, कैसे वे अगुवा थे हमारे राजनैतिक आन्दोलन के। उस वक़्त हम शिकायत करते थे कि वे ढीले पड़ जाते थे; अब लोग मेरी निस्बत शिकायत करते हैं कि मैं ढीला पड़ जाता हूँ। अब तो मुझे खुद अनुभव हुआ है इस बात का, और अब मेरा अनुभव सही है। हो सकता है मेरे बारे में शिकायत सही हो। अपने को अन्दाज़ करना मुश्किल है; लेकिन मेरा मतलब यह है कि अगर मुमकिन हो तो आप ज़रा समझें उस ज़माने की हवा को, अपने सामने उस ज़माने के भारत का एक चित्र लायें और फिर समझें कि उसमें क्या हो सकता था, और क्या हुआ। तब आप हमारे पुराने जो नेता थे, जिन्होंने इस देश की राजनीति को ढाला, कांग्रेस को बनाया, जैसा कुछ वह बाद में बनी, इसका अन्दाज़ कर सकते हैं और उनका आदर कर सकते हैं। मेरा विचार है कि कांग्रेस के पुराने नेताओं को, जिनमें बहुत ही बड़ों में पूज्य मालवीयजी थे, दुनिया के किसी गज़ से भी आप नापें, बहुत बड़ा पायेंगे। वे बहुत बड़े आदमी थे जिन्होंने हिन्दुस्तान को ऐसे मौक़े से निकाला; वे बहुत बड़े थे लियाक़त में, विचारों में, अपने बलिदान की शक्ति में। अलावा इन सब बातों के इस बात में भी कि उन्होंने दूरन्देशी से देखा, उन्होंने बनाया भी, बिगाड़ा ही नहीं। बहुत सारे क्रान्तिकारी लोग बिगाड़ने की तरफ़ ज्यादा ध्यान देते हैं। उनके सामने अटकाव आते हैं जिनको हटाने, बिगाड़ने की ओर उनका ध्यान इतना हो जाता है कि बनाने की ओर उनका ध्यान कम हो जाता है—और हम मिसाल इसकी देख सकते हैं। और

देशों में भी, चाहे एशिया में या अफ्रीका में, हम देख रहे हैं कि बनाना ज्यादा कठिन काम होता है। बिगाड़ना भी कठिन होता है, फिर भी आसान होता है। हमारे जो बड़े नेता थे, उनका ध्यान हमेशा बनाने की तरफ़ भी जाता था, खाली बिगाड़ने की तरफ़ नहीं। उनकी कोशिश यह होती थी कि जहाँ तक हो सके, सहूलियत से काम लिया जाय; यानी बहुत तोड़-फोड़ न हो, एक ज़माने से दूसरे ज़माने में। तो इसकी तो मालवीयजी एक खास मिसाल थे; वे बढ़ते थे, बदलने की कोशिश करते थे। वे एक महान् क्रान्तिकारी थे, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन उनके सामने हमेशा बनाने की बात रहती थी, बनाने के सिलसिले में चीज़ें टूट भी जाती थीं और वे हटा दी जाती थीं। वे इससे घबराते भी नहीं थे—किसी चीज़ के टूटने में या झाड़ू देकर साफ़ कर देने में; लेकिन उनका खास ध्यान हमेशा बनाने की ओर रहा। खाली यही नहीं कि संस्थाएँ बनायीं हों, बहुत सारी बनायीं उन्होंने, बल्कि उन्होंने भारत के लोगों को बनाया। वे चाहते थे कि भारत के लोगों में हिम्मत पैदा हो, उनका सिर ऊँचा हो, उनमें अपने ऊपर भरोसा हो।

गांधीजी ने कहा था कि चरखा चलाओ। अब बड़े-बड़े युनिवर्सिटी के पंडित उसका विरोध करें, कहें कि वैज्ञानिक ज़माने में चर्खा चलाना क्या बात है, उनका अर्थशास्त्र से क्या ताल्लुक है?—लेकिन आर्थिक नतीजा उसका चाहे जो भी हो, उसका नतीजा था और है! वह एक चीज़ थी आदमी बनाने की! आदमियों को काम दे दिया, जिसमें वो भी समझें कि हम भी इस महान् कार्य में, भारत की आज़ादी के आन्दोलन में, भाग ले रहे हैं। और इससे भी लाभ होता था। समय को देखकर भी आप कह सकते हैं कि क्या चीज़ आगे ले जाती है। ऐसी कोई चीज़ जो आगे ले जाये, मगर जिसका सम्बन्ध टूट जाये आजकल के ज़माने से, तो वह एक अलग चीज़ हो जाती है। उसका कोई ताल्लुक़ नहीं रहता आज के ज़माने से। और अगर सम्बन्ध ऐसा हो कि आपका आगे बढ़ना रुक जाता है, तो उसका कोई नतीजा नहीं। आप कहाँ ले जा रहे हैं जनता को, यह खास बात है। इसलिए लीडर को आगे भी बढ़ना है और अपना सम्बन्ध भी क़ायम रखना है। और लोगों को अपने साथ ले जाना है क़दम-ब-क़दम, क़दम मिलाकर। लीडर अगर बहुत आगे बढ़ जाये तो और लोग पीछे रह जायेंगे। उससे कोई लाभ क़ौम का, जनता का, नहीं होगा। इस तरह से आप जज कर सकते हैं ज़माने को, उसके लीडर को। तो, अगर हम

इस गज़ से नापें और देखें कि कैसा सम्बन्ध रहा पूज्य मालवीयजी का अपने ज़माने से और पुराने ज़माने से, तब आप अन्दाज़ा लगा सकेंगे कि वे कितने महान् थे, कितने बड़े थे ! और मालवीयजी तो आगे भी देखते थे, और लोगों को आगे ले जाते थे। इसमें कोई शक नहीं कि वे बहुत ही बड़े महापुरुष थे हमारे देश के। सारे देश को उनका गर्व है, लेकिन जो इलाहाबाद के रहने वाले हैं उनको तो खास गर्व होना चाहिए इस बात का कि ऐसा बड़ा आदमी पैदा हुआ, हमारे इस शहर में। और उनकी याद में श्रद्धांजलि पेश करनी चाहिए। सबसे बड़ी याद तो उनकी बनारस का विश्वविद्यालय है। इससे बड़ी याद किसी की क्या हो सकती है ! यह तो ख़ास उन्हीं की चीज़ है। लेकिन पिछले सारे सत्तर बरस से ऊपर के हमारे राजनैतिक इतिहास में, भारत के इतिहास में, उनका नाम एक एक चमकते हुए सितारे की तरह रोशन है। शुरू से ही कांग्रेस के और कितने ही और मैदानों में उन्होंने रोशन हिस्सा लिया और उसको चमकाया, आगे बढ़ाया।

एक हमारे आजकल के नौजवान हैं जो एक दूसरी दुनिया में हैं ; जिनकी शायद समझ में ही नहीं आता यह पूरी तौर से कि हमारी आज़ादी की लड़ाई में क्या हुआ, क्या नहीं हुआ। हाँ, कुछ कहानी सुनते हैं, किताबों में से कुछ थोड़ा-सा पढ़ भी लेते हैं लेकिन पूरी तरह से अनुभव नहीं कर पाते, वैसा जैसा वह जिसने आँख से देखा और जिन्होंने उस तजुरबे को हासिल किया। अच्छा हो अगर वे लोग कुछ ऐसे महापुरुषों को, जो हमारे बुजुर्ग हुए और जिनके बाद हम आये हैं, कुछ समझने की कोशिश करें कि वे क्या थे, क्या-क्या उन्होंने किया अपने ज़माने में, कैसे उन्होंने हिन्दुस्तान को और यहाँ की जनता को, जो एक बड़े गढ़े में पड़ गई थी, उसमें से निकाला। हम बड़े-बड़े आर्थिक सवालों पर विचार करते हैं, पंचवर्षीय योजनाएँ बनाते हैं और क्या-क्या करते हैं ; लेकिन आख़िर में एक देश बढ़ता है—इतना रुपये-पैसे से नहीं, रुपया-पैसा भी काम आता है और उसकी ज़रूरत होती है—जितना इन्सानों से, कैसे किस क़िस्म के लोग हैं वहाँ, किस क्वालिटी के लोग हैं, इससे बढ़ता है। और आप देखेंगे कि जो बहुत बड़े आदमी हमारे यहाँ हुए हैं, उनके सामने यह प्रश्न रहा है कि लोगों को कैसे उठाना। एक मानी में लोग उठते हैं। उनके उठने का एक बड़ा तरीक़ा है शिक्षा का—शिक्षा स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटी वग़ैरह की। वह तो है; लेकिन एक तरह की शिक्षा और होती है, स्कूल-कालेज के अलावा ! जो शिक्षा

हम लोगों ने पायी, मेरे ज़माने में लोगों ने पायी। हमने राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़ी ज़बर्दस्त शिक्षा पायी, क्योंकि वह चीज़ सीखने की थी। उसका पहला लक्ष्य यही नहीं था कि अँगरेज़ों को, अँगरेज़ी हुकूमत को हटायें यहाँ से। यह उसका नतीजा था, और यह नतीजा मन में था, छिपा नहीं था; लेकिन असल चीज़ यह थी कि कैसे हिन्दुस्तान के रहने वालों को, विशेषकर दबे हुए लोगों को ऊपर उठाया जाय। मालवीयजी और गांधीजी का ध्यान जाता था, हमेशा जाता था किसानों की तरफ़, और उनकी तरफ़ जो सबसे नीचे के तबक़े के लोग हैं। कैसे इन लोगों का सिर ऊँचा हो, अपने पर भरोसा हो, मिलकर सहयोग से काम करें, सब लोगों का इस ओर ध्यान विशेषकर जाता था। क्योंकि, जैसा ये लोग कहते थे कि अगर हिन्दुस्तान में स्वराज्य आ गया और लोग तैयार न हुए तो वह निकल भी जायगा, रहेगा नहीं; लोग तैयार हैं तो स्वराज्य आ ही जायगा और क़ायम भी रहेगा।

तो इन सब लोगों के काम, गांधीजी के या मालवीयजी के, भविष्य को देखते हुए थे। सब लोगों को बढ़ाना, ऊँचा करना, मज़बूत करना, उनको आपस में मिलकर काम करना सिखाना, इस तरह से एक ईंट, एक पत्थर लेकर इन महापुरुषों ने हमारे भारत के भविष्य को उज्ज्वल बनाने की कोशिश की, और बहुत-कुछ बनाया। उन्होंने बनाया था हम लोगों को जो दूसरी पीढ़ी के थे कि हम कुछ ज़्यादा ज़ोर दिखा सकें, लेकिन असल में तो काम उनका था। हमको मौक़ा दिया कि हम कुछ कर सकें अपने ज़माने में, जैसे कि अब के जो नौजवान हैं उनका आता है, वक़्त आ गया है। और वे भी बहुत-कुछ करेंगे; उनके पीछे ये सब इमारतें बनी हुई हैं जिसे कि वे और आगे बढ़ायेंगे, ख़ाली साफ़ मैदान में तो किसी जाति को काम करने को मिलता नहीं। हमारे पीछे जो हज़ारों बरस हैं, वो तो हैं; लेकिन हज़ारों बरस में अच्छा भी है, बुरा भी है। लेकिन इस वक़्त तो ४०-४५ बरस का काम हमारे पीछे है, जिसने जो कुछ भारत इस वक़्त है, उसे बनाया है। नये-नये सवाल उठते जाते हैं, तो उस तजुर्बे से लाभ उठा सकते हैं आजकल के लोग। और फिर अपनी अक़्ल से और आजकल के ज़माने को देखकर, उसको बढ़ा सकते हैं। यह कहानी तो कभी किसी देश की ख़त्म नहीं होती। उसका कोई अन्त नहीं है। वह तो बढ़ता ही जाता है, रोज़-रोज़, हमेशा के लिए!

ऐसे मौक़े पर जब हम याद करते हैं एक महापुरुष को; तो उसकी जीवनी से हम लाभ उठायें, सीखें। बहुत-कुछ हम सीख सकते हैं एक मानी में। दुनिया का इतिहास क्या है ? बहुत बातें हैं दुनिया के इतिहास में, पर एक मानी में कहा जाय तो दुनिया का इतिहास दुनिया के जो बहुत ऊँचे तबक़े के लोग है उनकी जीवनियाँ हैं; वही इतिहास है। एक मानी में यह सही बात है। और बातें भी हैं, लेकिन असल में शायद सबसे ज़रूरी बात यही है।

हमारे सामने तो कई ऐसी मिसालें हैं जिनसे हम सीख सकते हैं—आजकल के लोग, आजकल के नौजवान बहुत-कुछ सीख सकते हैं मालवीयजी के जीवन से। उनके सामने जो लक्ष्य था, जैसे उन्होंने काम किया और सफलता पायी इन सबसे। हम मूर्तियाँ खड़ी करें, संस्थाएँ बनायें, यह तो ठीक है; लेकिन आखिर में सबक़ सीखें उनकी ज़िन्दगी से, उनके काम से और सीखकर उसी रास्ते पर चलें, आजकल के ज़माने में उसको लगाकर चलें और आगे बढ़ें, तो यही उनका सबसे बड़ा स्मारक हो सकता है। यह अच्छा है कि समय आया उनकी शताब्दी मनाने का, तो पुराने और नये लोग सब फिर सोचें, विचार करें और सीखें कि वे क्या-क्या बातें थीं, जिनसे मालवीयजी इतने ऊँचे महापुरुष हुए; कैसे उन्होंने भारत की आज़ादी के रास्ते में, अपनी संस्कृति का आदर करने के रास्ते में सबको बढ़ाया और यह कि उनके बतलाये रास्ते पर चलकर भारत की सेवा हम किस तरह करें और आगे बढ़ें।

जय हिन्द !

भूमिका

श्रद्धेय मालवीयजी का व्यक्तित्व अपने ढंग का अनूठा ही था। वह जैसे धवल वस्त्रधारी थे, वैसा ही उनका हृदय भी पवित्र था। मैंने उन्हें द्वेष और ईर्ष्या के वश में आकर काम करते शायद ही कभी देखा हो। गांधीजी ने १९२० में जब असहयोग-आन्दोलन प्रारम्भ किया, मालवीयजी उससे सहमत नहीं थे। असहयोग-आन्दोलन की आँधी में, जो उसका विरोध करता था, उसके लिए ठहर पाना कठिन ही था। वह आँधी क्या एक तूफान था। परन्तु मालवीयजी अपनी सच्चरित्रता और सद्‌भावना से उस तूफान से भी बाहर निकल आये। थोड़े ही समय बाद वह कांग्रेस में पूरी तरह भाग लेने लगे। गांधीजी ने जो रचनात्मक कार्य उठाया, उसका उन्होंने पूर्णतः समर्थन किया। मालवीयजी का स्थान सदा कांग्रेस के प्रमुख और वरिष्ठ नेताओं में रहा और वह स्वतन्त्रता-संग्राम में सदा आगे रहे।

गांधीजी और मालवीयजी के तरीकों में अन्तर था, परन्तु गांधीजी मालवीयजी का बड़ा आदर करते थे। गांधीजी ने सदा उनको अपना बड़ा भाई माना। मालवीयजी भी गांधीजी के प्रति बड़ा आदर और मान प्रकट करते। राजनीतिक क्षेत्र में समकक्ष नेताओं में प्रायः संघर्ष हो जाता है, परन्तु यहाँ परस्पर मेल और स्नेह अन्त तक बना रहा।

मालवीयजी नैतिकता के पुजारी थे। सच तो यह है कि उनकी नैतिकता ने, वह जिधर बिचरे, उनको श्रेष्ठतम स्थान दिया। वह देश के उन गिने हुए पथप्रदर्शकों में हैं जिनको देश सदा याद रखेगा।

इस पुस्तक में मालवीयजी के जीवन की झलकियाँ संगृहीत हैं जो सबके लिए प्रेरणादायक हैं।

१. मोतीलाल नेहरू पार्क
नई दिल्ली
२२ मई १९६२

लालबहादुर
(गृहमन्त्री, भारत सरकार)

दो शब्द

बहुत दिनों से मैं महामना मालवीयजी-सम्बन्धी संस्मरण इकट्ठा कर रहा था। कहीं पढ़ा तो उतार लिया, किसी के भाषण या आपसी बातचीत में सुना तो घर आकर लिख लिया। और इस तरह एक अच्छा-खासा संग्रह संस्मरणों का मेरे पास हो गया। कुछ मित्रों ने देखा तो उन्हें बहुत पसन्द आया और उन्होंने आग्रह किया कि यह खजाना तो सब के लिए प्राप्य और सुलभ होना चाहिए। उन्हीं के आग्रह का फल यह पुस्तक है। इसमें मेरा अपना तो बहुत कम है, अधिकांश में तो दूसरों का ही है। हाँ, चुनाव जरूर मेरा है। अपनी पसन्द की ही चीज़ तो लोग संग्रह करते हैं। चयन करते समय वर्णित घटनाओं की सत्यता का भी शक्ति-भर काफी ध्यान रक्खा गया है। इस अंश-मात्र में पुस्तक मेरी कही जा सकती है, अन्यथा इसमें मेरा अधिक कुछ नहीं।

संस्मरणों से हमें किसी भी व्यक्ति की झाँकी या झलक मात्र मिलती है। यद्यपि इनसे सम्पूर्ण चित्र नहीं बनता, पर सम्पूर्ण चित्र को बनाने में ये अत्यधिक मूल्यवान् होते हैं। इस दृष्टि से महामना मालवीयजी की ये झाँकियाँ या झलकियाँ बहुत अधिक रोचक, ज्ञानवर्धक और उपयोगी हैं।

मैं उन तमाम सज्जनों का आभारी और कृतज्ञ हूँ जिनके संस्मरणों का इस पुस्तक में संग्रह किया गया है, बिना उनकी आज्ञा और जानकारी के। भू० पू० प्रतिरक्षा-मन्त्री श्री महावीरजी त्यागी का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपने पूरे लेख को इस पुस्तक में सम्मिलित कर लेने की आज्ञा मुझे प्रदान की। मालवीयजी के मंत्र-दीक्षित शिष्य आदरणीय पं० राधेश्यामजी कथावाचक बरेलवी ने तो मेरे आग्रह पर अपनी रुग्णावस्था में भी अपने संस्मरण लिख कर भेजने की कृपा की। गृहमंत्री

श्री लालबहादुर शास्त्री ने अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी इस पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए समय निकाला है। उनके अन्तर में महामना के लिए अगाध श्रद्धा न होती तो मेरा निवेदन भी शायद निष्फल रह जाता।

मालवीयजी को निकट से जानने वाले व्यक्तियों की संख्या अब दिन पर दिन कम होती जा रही है। जो थोड़े-से लोग हैं मेरी जानकारी में उनसे मैंने अपने-अपने संस्मरण लिख देने की प्रार्थना की, पर उनमें से अधिकांश अधिक अवस्था के कारण इच्छा रहते हुए भी अभी तक उन्हें लिखकर मेरे पास नहीं भेज सके हैं। मेरा प्रयत्न अब भी जारी है—यदि मैं सफल हुआ और वे मुझे मिल सके, तो आगामी संस्करण में उन्हें जोड़ दिया जायगा, या वे दूसरे भाग में अलग से प्रकाशित कर दिए जायेंगे।

मैं उन पुस्तक-प्रकाशकों का, विशेषकर सस्ता साहित्य मंडल का, आभारी हूँ जिन्होंने अपनी प्रकाशित पुस्तकों में से सम्बद्ध सामग्री चयन कर लेने की अनुमति प्रदान करने की कृपा की है। कुछेक का तो पता ही नहीं चला। कितने ही पत्र लिखे, पर कोई उत्तर न मिला। संभवत: वे संस्थाएँ अब रही ही नहीं। यदि हों तो मैं उनसे क्षमाप्रार्थी हूँ कि अनुमति प्राप्त किये बिना ही मैंने उनकी प्रकाशित पुस्तकों से कुछ उत्तम संस्मरणों का संग्रह कर लिया है।

पुस्तक जल्दी छपाने का मेरा कोई इरादा न था। पहले ये सारे संस्मरण जीवनी लिखने के सम्बन्ध में स्वान्त:सुखाय ही संग्रह किये गए थे। मित्रों के आग्रहवश महामना जन्मशती-समारोह के अवसर पर ही इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करने का निर्णय हुआ। इधर महामना मालवीय शती-समारोह समिति, प्रयाग का प्रधानमंत्रित्व भी मुझे स्वीकार करना पड़ा और अधिकांश समय मेरा उसके कार्यों में लगा। पुस्तक छपी दिल्ली में और मैं प्रयाग में। ऐसी अवस्था में जल्दी-जल्दी में छपी इस पुस्तक में अनेक भूलों और कमियों का रह जाना नितान्त संभव है। उनके लिए मैं अपने पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ। इस सम्बन्ध में यदि वे मुझे

सुझाव देने की कृपा करेंगे तो मैं कृतज्ञ हूँगा और भरसक चेष्टा करूँगा कि दूसरे संस्करण में आवश्यक सुधार कर दिए जायँ।

अन्त में मैं इतना ही कहूँगा कि पुस्तक में यदि कुछ अच्छाई है तो उसके लिए इन संस्मरणों के लेखक और वक्ता तथा उनके प्रकाशक सज्जन धन्यवाद के पात्र हैं। कमियों की सारी जिम्मेवारी मेरी है और दोषभागी मैं हूँ। पाठकों से मेरी प्रार्थना है कि नीरक्षीर-विवेक से वे काम लें और विश्वास है कि तब घाटे में न रहेंगे—कुछ न कुछ उन्हें मिलेगा ही।

—पद्मकान्त मालवीय

संस्मरण-प्रस्तोता

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
श्री सुरेन्द्रनाथ वर्मा, एडवोकेट
डा० शान्तिस्वरूप भटनागर
हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द
ी त्रिलोकीसिंह, प्रजासमाजवादी नेता
पं० ब्रजमोहन व्यास
श्री केशवदेव मालवीय
(ईंधन, तेल और खनिज मंत्री)
पं० वेंकटेशनारायण तिवारी
पं० राधाकान्त मालवीय
स्व० मुंशी ईश्वरशरण
श्री भगवानदास हालना
मौलाना शाहिद फाख़री
(एम. एल. सी.)
श्री गोपालदास नागर
श्री० सी० बालकृष्ण राव
पं० शिवनाथ काटजू
(एम. एल. ए.)
श्री मनमोहन गुप्त,
(मनमाड बम-केस)
श्री श्रीकृष्णदास
श्री शंकरशरण
(भू० पू० जज, प्रयाग-हाईकोर्ट)
पं० हृदयनाथ कुंजरू (एम. पी.)

पं० के० चन्द्रशेखरन्

स्व० नरसिंह चिंतामणि केलकर

(लोकमान्य तिलक के दक्षिण बाहु)

स्व० डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा

श्री वी० ए० सुन्दरम्

स्व० पं० रमाकान्त मालवीय

श्री० त्रिलोचन पंत

पं० जीवनशंकर याज्ञिक

स्व० गोस्वामी गणेशदत्त

स्व० पं० वसन्तलाल शर्मा

पं० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी

श्री प्यारेलाल नायर

पद्मकान्त मालवीय

स्व० पं० रामनरेश त्रिपाठी

श्री सन्तशरण मेहरोत्रा

श्री एम० एन० थोलाल

श्री सत्यव्रत

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

स्व० श्री एन० के० मुकर्जी

पं० रामचन्द्र मालवीय

पं० देवदत्त शास्त्री

श्री एम० आर० शेरवानी (एम. पी.)

पं० गंगाशंकर दीक्षित

स्व० पं० हरिदत्त शास्त्री

पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, काशी

पं० विश्वनाथ त्रिपाठी

सेठ श्री घनश्यामदास बिड़ला

श्री ज्योतिभूषण गुप्त

पं० गिरिजाशंकर अवस्थी

एक कृतज्ञ

पं० अम्बादत्त भट्ट

पं० चन्द्रवली त्रिपाठी
श्री देवदत्त 'अटल'
चौधरी गिरिधारीलाल
(मंत्री, उत्तरप्रदेश शासन)
डा० धर्मप्रकाश
पं० मौलिचन्द्र शर्मा
श्री शिवराम सेवक
श्री माधवाचार्य शास्त्री
भगवतीप्रसाद 'माधव'
श्री इश्तियाक हुसेन
श्री पं० शिवराम पाण्डेय
श्री ब्रह्मचारी प्रभुदत्त
देशभक्त स्व० बाबू शिवप्रसाद गुप्त
श्री महावीर त्यागी
(भू० पू० प्रतिरक्षामंत्री)
स्व० पं० रामनारायण मिश्र
श्री मुन्नीलाल मेहरा
पं० राधेश्याम कथावाचक
श्री सत्यव्रत

जीवन-झलकियाँ

मालवीय-संस्तुतिः

अभयश्च सदा, सदयश्च सदा, मधुरश्च सदा, ह्यवदातमतिः।
निष्कर्षपटुः, निष्कामवटुः, ह्यभिदानगतिः, व्रजराजरतिः।
धर्मेषु रविः, कर्मेषु शशिः, विज्ञानबुधः, प्रज्ञानगुरुः।
मृदुमञ्जुसुधा मधुपर्कमयी, धवला सबला सरला प्रकृतिः।
विजयते मदन मोहन मालवीयः !
विरागे गरीयः प्र-यागे गरीयः !

—शिवाधारपाण्डेयः

संकट के साथी

१९२२ का ज़माना था। महात्मा गांधी, सरदार पटेल, जवाहरलालजी इत्यादि सभी नेता जेल में थे। केवल मालवीयजी और मैं बाहर थे। आसाम से वहाँ के भीषण सरकारी दमन की खबर आयी। कांग्रेस का नाम-मात्र लेने वाले को गिरफ्तार कर उसके गाँव को ही बरबाद कर देना, कांग्रेस कमेटियों के मकानों को जला देना, इत्यादि चल रहा था।

मैंने मालवीयजी को सूचना दी। उन्होंने तुरन्त आसाम चलने की सलाह दी और हम दोनों आसाम पहुँच गए। वहाँ गाँवों में पहुँचना आसान काम नहीं था। भय-वश न कोई आदमी पास आता था, न भाड़े की गाड़ी मिलती

थी । कांग्रेस के स्वयंसेवक जहाँ-तहाँ मिल जाते थे । ऐसे स्थानों में हम लोग गये तो लोगों में जान आयी, जागृति आयी और लोग जागे । मालवीयजी ने वहाँ जाकर अफ़ीम-विरोधी आन्दोलन चला दिया । उन दिनों आसाम में अफ़ीम की बहुत खपत थी । गांधीजी का एक कार्यक्रम नशाबन्दी था ही । मालवीयजी के अफ़ीम-बाईकाट आन्दोलन का फल यह हुआ कि कम से कम थोड़े दिनों के लिए दुकानों से अफ़ीम बिकनी बन्द हो गई और सरकार को काफी घाटा उठाना पड़ा । इस तरह के और भी मौके आये । जब-जब कांग्रेस दिक़्क़त में पड़ी, मालवीयजी आगे आये । पुराने लोगों और नये लोगों के बीच में मालवीयजी एक प्रकार के पुल का काम दिया करते थे । उनकी अनेक बातों में कांग्रेस के साथ उनका मतभेद होता था, पर उन्होंने उसे कभी छोड़ा नहीं । उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि कांग्रेस से हमारा मतभेद है, इसलिए अब हम इसके साथ नहीं चल सकते । वह अपना तरीक़ा अख्तियार करते रहे, अपने तरीक़ों से चलते रहे, मगर कांग्रेस को उन्होंने कभी कमज़ोर नहीं पड़ने दिया और न कमज़ोर होने देना चाहते थे । यह एक ऐसी चीज़ थी कि जिसकी वजह से कांग्रेस के लोग, चाहे उनके साथ कितना भी मतभेद क्यों न रखते हों, मगर उनकी इज़्ज़त किये बिना, उनकी श्रद्धा रक्खे बिना, उनके प्रति प्रेम रक्खे बिना नहीं रह सकते थे । और इसका श्रेय मालवीयजी को था कि वह श्रद्धा और प्रेम दोनों ही लोगों से लिया करते थे, अपने तरीक़े से, अपने काम से ।

—राजेन्द्रप्रसाद
(राष्ट्रपति)

विराट् मानव

लखनऊ में प्रान्तीय राजनैतिक कान्फ्रेंस का अधिवेशन हुआ था। मालवीयजी उसके सभापति थे। उनकी बग़ल में ही दो मुसलमान सज्जन मंच पर बैठे हुए थे। पूज्य मालवीयजी ने मंच पर बैठे ही बैठे पीने के लिए पानी माँगा। मैं यह सब देख रहा था और मुझे बड़ा कुतूहल था कि मालवीयजी पानी कैसे पियेंगे! पानी आया और मालवीयजी ने मंच पर बैठे ही बैठे पानी पिया। बाद में मुझसे न रहा गया, और मैं पूछ ही बैठा उनसे ऐसा करने का कारण; उन्होंने मुझसे उत्तर में कहा था :

"देश के कल्याण के लिए मैं सब कुछ कर सकता हूँ। इस समय मुसलमानों को अपने में मिलाने की बड़ी आवश्यकता है।"

बहु-वन्दनीय मूर्ति

उनके काम का ढंग था—अपने को पीछे रखना। यह तो मैंने जीवन-भर देखा कि जहाँ काम करना है, परिश्रम करना है वहाँ स्वयं करना; और जहाँ कीर्ति मिलनी है वहाँ दूसरे को आगे करना।

बड़ों का लिहाज़-अदब इतना अधिक कि जो उनके बराबर थे, लेकिन साल-दो साल भी बड़े थे, उनको अपने से बहुत बड़ा करके मानते थे। मालवीयजी महाराज राजनीति में सभी से पहले आये थे, परन्तु पं० मोतीलाल नेहरू, पं० सुन्दरलाल के प्रति, मैंने देखा, वह अदब का बर्ताव करते थे। जैसे कोई छोटा अपने बड़ों के सामने जाता है, वैसे ही वह इनके सम्मुख जाते थे। यह उनकी नम्रता रही।

मालवीयजी कोरे धर्म की बातें करने वाले नहीं थे। वह तो उनके

हृदय में था ही। भक्त थे। वैष्णव, सच्चे वैष्णव थे वह, भागवत उनकी प्यारी पोथी थी। परन्तु उनके हृदय में राष्ट्र की चिन्ता थी। अपने युवक क्या बनेंगे, यह वह देखा करते थे। वह सोचा करते थे, युवक भविष्य में कैसे बनेंगे ! हिन्दू शब्द तो उनके मुँह में आदर का था। किन्तु कभी-कभी आपस में कड़वेपन में कह देते थे, "अच्छा, यह नहीं करोगे ! जाओ, एक दरिद्र हिन्दू की तरह से तुम काम करो।" यह उनके लिए गाली हो जाती थी।

हिन्दुओं की जो मानसिक प्रवृत्ति आज है उससे वह चिढ़ते थे। बहुत लोग देख नहीं सकते थे, मैं अन्दर से देखता था। उन्हें वैसी ही चिढ़ थी दलितपन की प्रवृत्ति से, आलसपन से; और जो पीछे की चीज़ें हैं उनको पकड़े रहने की प्रवृत्ति से भी। खाली गाथा नहीं; काम करो, काम करो—यह उनका मंत्र था।

वह जान रहे थे कि भविष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता मैकेनिकल इंजीनियरिंग की है। रुड़की-कालेज था जो सिविल इंजीनियर बना रहा था। उन्हें मैकेनिकल इंजीनियरिंग की बहुत चिन्ता थी, जिसका देश-भर में कहीं ठिकाना न था। उस समय उन्होंने एक अंग्रेज, एक बहुत अच्छे अंग्रेज प्रिंसपल किंग को जो ऋषि-तुल्य था, चुना और उसके सुपुर्द किया। यह उनकी कल्पना थी।

उनकी तबीयत ऐसी थी कि राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय विचारों को धक्का लग रहा हो तो वह उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

कष्ट सहने का माद्दा भी उनमें कैसा था ! गंगा-तट पर माघ का मेला था। पानी बरसने वाला था। कड़ाके की सर्दी थी, रात में ही मुझे बुलवाया। बोले, चलो ! यह तो बड़ा कष्ट होगा लोगों को। नंगे बदन लोग आग तापते हैं। गये। लकड़ी की टाल पर पहुँचे, हुकुम हुआ, "लकड़ी भेजो, लकड़ी भेजो !" अब ले कौन चले ? मालवीयजी ने स्वयं उठायीं, कन्धे पर रक्खीं; तो फिर कौन रुक सकता था ? हम सबों ने लकड़ी उठायी, बाद में बहुत-से लोग इकट्ठे हो गए और लकड़ी ले-लेकर साधुओं के यहाँ, ग़रीबों के यहाँ, जिनके पास सहारा नहीं था, उनको पहुँचाने और बाँटने लगे। यह उनकी करुणा थी। करुणा तो उनके नित्य के जीवन में देखी जाती थी। किसी को कोई भी कष्ट हो तो उनको

कष्ट होने लगता था।

हमारे सामने उनका जीवन है। वे श्वेत वस्त्र पहना करते थे। श्वेत ही उनका वस्त्र था और श्वेत ही उनका चरित्र भी। उस प्रकार के चरित्रवान् लोग राजनीति में कम हुआ करते हैं। जब कि वकालत में भी बड़ी गन्दगी छायी हुई है, मैंने देखा, वह वकालत भी अपने को सँभाल कर करते थे। मालवीयजी महाराज ने जिस पवित्रता से वकालत की, वैसी ही पवित्रता से उनका जीवन बराबर बीता। वह रुपये के लोभी नहीं थे। रुपया मालवीयजी के लिए बहुत अर्थ नहीं रखता था और किसी तरह वह अपना काम चला लेते थे।

सरकारी नौकरी नहीं

प्रातःस्मरणीय मालवीयजी महाराज काम स्वयं करते थे, पर नाम दूसरों का आगे रखते थे। यश की उन्हें चाह नहीं थी। अदालती कामों के लिए हिन्दी को स्वीकार कराने के सम्बन्ध में सारा पत्र-व्यवहार वही करते थे, पर उस पर नाम रहता था अयोध्या-नरेश ददुआ साहब का। हिन्दू विश्वविद्यालय की सारी योजना उनकी थी, पर आगे रखते थे वह दरभंगा-नरेश को।' नेकी कर, पानी में डाल' यह उनके जीवन का आदर्श था।

एक बार जब वाइसराय की कार्यकारिणी समिति में भारतीयों के लिये जाने की बहुत ख़बर थी, मैंने उनसे कहा कि सरकार शायद आपको भी निमन्त्रित करे। उन्होंने उत्तर दिया—इस विदेशी सरकार की तो बात ही क्या, स्वराज्य सरकार में भी I shall be piping for my people—मैं अपनी जनता के लिए ही आवाज़ उठाता रहूँगा।

तप और आत्म-निग्रह की वह मूर्ति थे।

—पुरुषोत्तमदास टण्डन

हाजिर-जवाबी

यह बात सन् ३०-३१ की है; राउण्ड टेबल कान्फ्रेंस में जाने से पहले की। मालवीयजी जेल से छूटकर आये हुए थे। बहुत कमज़ोर थे। मेरे मन में महाराज के दर्शनों की आकांक्षा उठी और मैं एक दिन उनके दर्शनार्थ उनके बँगले पहुँच गया। बातचीत के सिलसिले में पूछा बैठा—महाराज ! देश में यह जो आँधी और तूफ़ान इस समय उठ रहे हैं उनका हश्र क्या होगा ? मालवीयजी ने बहुत धीरे से तत्काल उत्तर दिया, "सुरेन्द्रनाथ ? तूफान आकर जाने के लिए ही उठा करते हैं।" (Storms come only to pass off.)

श्री चिन्तामणिजी को यह घटना बहुत ही प्रिय थी। वह जब-तब मित्रों के सन्मुख मेरे द्वारा इसे दुहरवाया करते थे। कहते "हाँ सुरेन्द्र ! ज़रा वह घटना सुना जा तो फिर एक बार।" मुझे स्वयं इस बात ने जीवन में बड़ा बल प्रदान किया है।

एक ऐसी ही दूसरी घटना सन् १९४२ के आन्दोलन के बाद की है। वह प्रयाग आये हुए थे। देश में चारों ओर पसमुर्दगी छायी हुई थी। नैराश्य का वातावरण था और मालवीयजी उसे मिटाने के लिए, देश में चेतना लाने के लिए, कुछ करना चाहते थे। उन दिनों बिहार के प्रसिद्ध नेता स्वर्गीय डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा भी यहाँ आये हुए थे। मालवीयजी ने डाक्टर सर तेज-बहादुर सप्रू तथा डाक्टर सिन्हा को विचार-विनियम के लिए बुलाया। नियत दिन डाक्टर सप्रू के कहने पर मैं भी उन दोनों के साथ मालवीयजी के पास गया। सारी बातें हो चुकने पर मैं एक ढिठाई का सवाल मालवीयजी से पूछ बैठा। डाक्टर सिन्हा तो प्रश्न सुनते ही अवाक् रह गए और बाद में उन्होंने मुझसे कहा भी—तुमने उक्त प्रश्न पूछा तो मुझे लगा कि ऐसा प्रश्न मालवीयजी से तुम्हें नहीं करना चाहिए था। इस प्रश्न के द्वारा तुमने उन्हें एक अवांछनीय स्थिति में डाल दिया था। मैंने पूछा था—महाराज ! इस (१९४२ के) आन्दोलन

में हिंसा का जो प्रदर्शन हुग्रा, क्या वह गांधीजी के ग्रहिंसात्मक विचारों के ग्रनुरूप था ग्रौर क्या इसके लिए वह जिम्मेवार नहीं हैं ? मालवीयजी ने तपाक से उत्तर दिया—"हाँ, गांधीजी ग्रवश्य ही ग्रान्दोलन की सारी बातों के लिए जिम्मेवार हैं। जो कुछ हुग्रा, उसकी न केवल नैतिक जिम्मेवारी उन पर है बल्कि सम्पूर्ण; किन्तु यदि यही ग्रान्दोलन सफल हो जाता तो दुनिया कहती ग्रौर इतिहास में लिखा जाता कि भारत ने क्रान्ति द्वारा ग्रपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। ग्रान्दोलन ग्रसफल हो गया; तो इसी का नाम शान्तिमय विद्रोह या जो चाहो दे सकते हैं।" (If the movement had been successful it would have gone down in history and called revolution through which INDIA achieved her independence but now that it has failed you can call it peaceful rebellion or anything you like.)

—सुरेन्द्रनाथ वर्मा, ऐडवोकेट

उदारमना

यद्यपि बहुत से लोगों का अब भी विश्वास है कि मालवीयजी धार्मिक मामलों में कट्टरपन्थी थे; किन्तु मेरा अनुभव इसके बिल्कुल विपरीत है। मैंने उन्हें अत्यधिक उदार व्यक्ति पाया है। स्थूल रूप की अपेक्षा विचारों के प्रति आस्था रखने वाले मेरे जैसे व्यक्ति को भी वह प्यार करते थे, यही इस बात का स्वयं-सिद्ध प्रमाण है।

यह घटना मेरे मधुर संस्मरणों में है। एक दिन बनारस में मालवीयजी विशाल जन-समूह के समक्ष कथा कर रहे थे और काशी की महिमा का वर्णन कर रहे थे। इस सम्बन्ध में बोलते हुए उन्होंने कहा कि काशीजी में स्वर्ग-लाभ करने वाले सीधे स्वर्ग जाते हैं।

श्रोताओं में मैं भी था और अपनी मज़ाकिया प्रवृत्ति के वशीभूत होकर मैंने कहा कि मैं इस बात की सत्यता को वैज्ञानिक रूप से सिद्ध कर सकता हूँ।

मुझे बोलने के लिए मंच पर बुलाया गया और मेरी बहादुरी के लिए मेरी पीठ ठोकते हुए मालवीयजी ने मुझसे अपने वैज्ञानिक तर्क उपस्थित करने को कहा।

मैंने कहा : महोदय ! बनारस नगर की स्वच्छता और सफाई का प्रबन्ध कुछ ऐसा है कि यहाँ मरने वाला जहाँ कहीं जायगा, वह यहाँ के मुक़ाबले में स्वर्ग ही जैसा होगा। भौतिक विज्ञान के अपेक्षावाद वाले सिद्धान्त जैसी ही यह बात है।

मालवीयजी बहुत हँसे और देर तक हँसते रहे तथा जनता को सम्बोधित करते हुए बोले कि आपका यह कर्तव्य है कि आप उन कारणों को दूर कर दें

जिनके कारण इस प्रकार का तर्क देना सम्भव हुआ और मैंने जो कहा है, उसकी सत्यता प्रमाणित हो जाय, इस बात का प्रयत्न करें ।

ईश्वरीय ज्योति

मालवीयजी सच्चे देशभक्त थे और हिन्दू धर्म में जो कुछ भी सर्वोच्च है उसके अनन्य प्रेमी ।

गोलमेज़ कान्फ्रेंस में भाग लेने के लिए जब वह इंग्लैंड गये थे, उस समय महात्माजी और मालवीयजी की सुरक्षा का भार वहाँ की सुप्रसिद्ध पुलिस-संस्था 'स्कॉटलैंड यार्ड' पर था । एक बार ईसाइयों के पूजनीय नेता स्वर्गीय डाक्टर एस० के० दत्त ने स्कॉटलैंड यार्ड के उस अधिकारी से, जिसपर इन दोनों नेताओं की सुरक्षा का भार था, उक्त दोनों महान् भारतीय देश-भक्तों के सम्बन्ध में उसकी सम्मति पूछी । पहले तो वह अधिकारी कुछ हिचकिचाया, फिर उसने कहा :

"महात्माजी महात्मा हैं ही । वह एक सन्त और अवतारिक पुरुष हैं; किन्तु मालवीयजी के नेत्रों में स्वयं ईश्वर-जैसी कोई चीज़ है ।" (Mahatma Gandhi is of course a saint and a seer, but there is something of the Lord in the eyes of Pt. Malviya.)

—डा० शान्तिस्वरूप भटनागर

सच्चे नेता

दल-बन्दी कर नेता बनने की इच्छा से वह कोसों दूर थे। वह जो कुछ करते उसमें देश-भक्ति तथा सेवा-भाव सर्वोपरि रहता था। इसी अमृतसर-कांग्रेस की बात है। प्रतिनिधियों से भरी हुई स्पेशल रेलगाड़ियाँ सारे देश से आ-आकर अमृतसर-स्टेशन पर खाली हो रही थीं। स्वागत-समिति ने प्रतिनिधियों के ठहरने के लिए तम्बुओं का प्रबन्ध किया था, पर देवराज इन्द्र ने उस दिन ऐसा पानी बरसाना शुरू किया, जैसा कहा जाता है पिछले बीस-पच्चीस सालों में पंजाब में कभी नहीं बरसा था। पंजाब और उत्तरप्रदेश के प्रतिनिधि पहले से पहुँच गए थे। सारे तम्बुओं में पानी भर गया। उनमें ठहरे हुए प्रतिनिधियों को तीन बड़ी पक्की इमारतों में ठहरा दिया गया, पर रेलवे-स्टेशन बराबर आते हुए प्रतिनिधियों से खचाखच भर गया। अन्त में अमृतसर के नागरिकों ने प्रतिनिधियों को अपने-अपने घरों में अपना मेहमान बनाकर रखने का प्रस्ताव किया। इसका नतीजा यह हुआ कि २ बजे दिन तक एक भी प्रतिनिधि ऐसा नहीं रह गया जिसका प्रबन्ध न हो गया हो। रेलवे पर हमारे विनम्र और सीधे-सादे नेता पंडित मदनमोहन मालवीय बराबर बने रहे; भूख-प्यास की चिन्ता न कर एक घोड़े की तरह उस समय तक काम करते रहे, जब तक कि अन्तिम मेहमान भी अपने नियत स्थान के लिए रवाना नहीं हो गया।

पंजाब में मालवीयजी के सम्पर्क के साथ मेरा प्रेम भी उन पर उत्तरोत्तर बढ़ता गया और मैं उनकी उदारता तथा अनुशासन की महान् भावना का प्रशंसक बनता गया। यहाँ मैं इस बात का एक और केवल एक उदाहरण दे दूँ। हण्टर-कमेटी—पंजाब-हत्याकाण्ड की जाँच करने वाली सरकारी कमेटी—लाहौर में थी। पंजाब सरकारने जांच होने के समय तक, क़ैद किये हुए नेताओं को छोड़ना अस्वीकार कर दिया था। महात्मा गांधी का कहना था, चूँकि सरकार ने हम लोगों के साथ तय हुई, जाँच कमीशन के सामने सबूत पेश करने की एक शर्त को तोड़ दिया है, लिहाज़ा हमें कमेटी के सामने सबूत पेश करने से इनकार कर देना

चाहिए। पर जेल के बाहर जितने पंजाबी नेता थे वे सब और उनकी हमदर्दी में बाहर से आये हुए प्रतिनिधि भी उस वर्ष कांग्रेस के सभापति पंडित मदन-मोहन मालवीय के नेतृत्व में सबूत पेश करने के पक्ष में थे। इस प्रश्न का अपने विरुद्ध निर्णय हो जाने पर महात्मा गांधी ने दो पत्र लिखवाये। एक पंजाब-सरकार के लिए और दूसरा समाचार-पत्रों के लिए; जिसमें उन्होंने साफ़-साफ लिखा था कि चूँकि वह सबूत पेश करने के विरुद्ध थे, अतः उनका अब पंजाब में रुकना बेकार है और तुरन्त ही छोड़ने जा रहे हैं। ये दोनों मसौदे भाई एण्ड्रूज़ के हाथ में थे और वह उन्हें लेकर मालवीयजी के पास जा रहे थे जो लाला हरकिशनलाल के स्थान पर ठहरे हुए थे। उसी समय अमृतसर से मैं वहाँ पहुँच गया। एण्ड्रूज़ ने मुझे वे मसौदे दिये और उन्हें पढ़ कर मैं आश्चर्य-चकित रह गया। गांधीजी के साथ इस प्रकार खुला मतभेद हो जाने पर कमेटी की वक़त पाई-बराबर न रह जाती। मैं अन्दर गया और देखा कि अमृतसर के लाला गिरधारीलाल को फोन किया जा रहा था कि हण्टर-कमेटी जब जलियाँवाले बाग़ और झगड़े के अन्य स्थानों का निरीक्षण करने जाये उस समय वह वहाँ उपस्थित रहें। मैंने जीवनलाल (लाला हरकिशनलाल के सुपुत्र) को फौरन रोका और उनसे लाला गिरधारीलाल को फोन पर यह कहने के लिए कहा कि वह पहली गाड़ी से लाहौर पहुँच जायें। उधर मैंने मालवीयजी से प्रतिवाद किया और उन्हें उसी दिन दोपहर में हण्टर-कमेटी के सामने गवाही देने के निर्णय पर पुनः विचार करने के लिए एक सभा बुलाने के लिए राज़ी कर लिया।

गांधीजी के ठहरने के स्थान पर कमेटी की बैठक हुई; पर बैठक के पहले ही मैंने पंडित नेहरू और श्री सी० आर० दास को संतुष्ट कर दिया कि गवाही देना हम लोगों के हित में न होगा। यहाँ पर उन बातों को देना व्यर्थ है, जो मैंने उन नेताओं के सामने रखी थीं। इतना कहना ही काफ़ी है कि वे मुझ से सहमत हो गए। पर दो बड़े महान् पंजाबी नेता अपनी माँग पर दृढ़ बने रहे और मालवीयजी ने उन्हें अपने समर्थन का वचन दे रखा था। चार घंटे की निरन्तर बहस के बाद कमेटी में बिल्कुल रुकावट पैदा हो गई थी। तब मैं मालवीयजी को अलग लिवा ले गया और उनसे इस स्थिरता का कारण पूछा। वह एक ओर तो बहुमत के निर्णय के विरुद्ध जाने को तैयार नहीं थे। दूसरी ओर उनका निजी मत अल्पमत वाले उन दोनों नेताओं के पक्ष में था। मैंने उन्हें सुझाया कि वह वोट ले लें और अपना मत अल्पमत वालों के साथ दें।

उनके कन्धों से जैसे बहुत बड़ा बोझ-सा उतर गया। वह आये और अल्पमत के साथ वोट दिया; किन्तु जब गवाही देने के विरुद्ध बहुमत से निर्णय हो गया तो पंडित मदनमोहन मालवीय ने पंजाब-गवर्नर के नाम भेजे जाने वाले बहुसंख्यक पत्र का मसौदा स्वयं ही लिखा और उसकी सारी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ओढ़ ली। निःस्वार्थपन और प्रजातंत्रीय भावना का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण था। यह उन अनेकों अवसरों में केवल एक है जब कि मालवीयजी ने राजनैतिक नेताओं के सामने शान्त किन्तु शानदार उदाहरण पेश किया था। अपने समय के महान् नेता महात्मा गांधी तथा मालवीयजी को समझने में यह घटना हमारी काफ़ी सहायता करती है। अपनी बात न माने जाने पर गांधीजी सरकार को पत्र लिख कर पंजाब छोड़ कर जाने के लिए तैयार थे; पर मालवीयजी! उन्हें बहुमत के सामने सिर झुका देने में कोई कठिनाई नहीं हुई। मालवीयजी की निःस्वार्थ-प्रियता, सदाशयता, उच्चता, निरभिमानिता तथा प्रजातन्त्रीय भावना के सम्बन्ध में इससे अधिक क्या कहा जा सकता है!

—हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द

साम्प्रदायिक नहीं, राष्ट्रीय

सन् ३०-३१ का ज़माना था। आन्दोलन ज़ोरों पर था और कांग्रेस के सभी नेता जेलों में थे। खलीकुज़्ज़मा साहब कांग्रेस के डिक्टेटर थे। भाई परमानन्द हैदराबाद में निज़ाम सरकार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ने की तैयारी कर रहे थे। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य फैलने की सम्भावना थी। खलीकुज़्ज़मा साहब चिन्तित थे। उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि यह आन्दोलन रुकना चाहिए, नहीं तो साम्प्रदायिक वातावरण विषाक्त हो जायगा। मालवीयजी से जाकर मिलो और किसी तरह इस आन्दोलन को रुकवाओ। तब उनकी आज्ञा से मैं मालवीयजी से मिलने काशी गया। जब उनके पास पहुँचा तो उन्होंने सारी बातें ध्यान से सुनीं और कहा, "भाई परमानन्द इस समय अपना आन्दोलन छेड़ना चाहते हैं जब कि गांधीजी जेल में हैं? उनके आन्दोलन से तो हमारे आन्दोलनों को बड़ा नुकसान पहुँचेगा। अच्छा, मैं पत्र लिखता हूँ।" फिर कुछ सोचकर कहा, "नहीं, उन्हें बुलाना ठीक होगा। तार दे दो!" पर जब तार लिखवाया, जो दूसरे दिन सुबह भेजा गया, तो उसमें उन्होंने साफ-साफ आन्दोलन न छेड़ने की बात लिखी। फलतः भाईजी ने अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया।

लखनऊ आकर मैंने जब खलीकुज़्ज़मा साहब को सब हाल बतलाया तो वह चकित रह गए। उन्होंने कहा कि भाई, हम लोग तो अब तक मालवीयजी को नितान्त साम्प्रदायिक समझते रहे हैं, यह क्या बात हुई? मैंने कहा, "खलीक साहब, मालवीयजी सच्चे राष्ट्रवादी हैं और आप से भी ज़्यादा।" खलीकुज़्ज़मा साहब ने ताज्जुब के साथ कहा, "अच्छा, यह बात है तो जाओ, बनारस चले जाओ एक बार फिर, और मेरी उनसे मुलाक़ात तय करा दो; मैं मालवीयजी से भेंट करना चाहता हूँ।" मैंने कहा, इसके लिए काशी जाने की क्या ज़रूरत! यह तो मैं पत्र द्वारा ही तय कराये देता हूँ। और मैंने मालवीयजी को पत्र लिखा कि खलीकुज़्ज़मा साहब आपसे मिलना चाहते हैं। लौटती डाक से, उत्तर आया "ज़रूर भेजो, खलीक़ साहब को, उनकी जब भी मर्ज़ी हो चले आयें।"

मालवीयजी के समान सच्चा राष्ट्रवादी कौन था ! यह हमारा सबका अभाग्य है जो मालवीयजी को साम्प्रदायिक कहा गया और साम्प्रदायिकों को राष्ट्रवादी ।

—त्रिलोकीसिंह
प्रजा-समाजवादी नेता

सच्ची राजनीति

एक दिन मैंने उनसे कहा कि महाराज महाकवि माघ ने तो एक छंद में राजनीति की व्याख्या कर दी है—अर्थात् 'अपना उदय और शत्रु का विनाश'; केवल इतनी ही तो राजनीति है। मालवीयजी की मुस्कान घृणा में परिवर्तित हो गई। बोले, छिः, टुच्ची राजनीति है। दूसरों का भी अपने साथ-साथ अभ्युदय हो, यही सच्ची श्लाघनीय राजनीति है।

एक समय की बात है, मेरे परिवार की किसी लड़की का विवाह महामना जी के परिवार के किसी बालक के साथ निश्चित हुआ। मालवीयजी महाराज हमारे यहाँ बारात के साथ ज्यौनार में सम्मिलित हुए। उस समय वह सम्भवतः लाहौर-कांग्रेस के सभापति रह चुके थे। भोजनोपरान्त प्रथानुसार दोनों ओर से विनती के श्लोक पढ़े जाने थे। मैंने एक श्लोक बनाकर पढ़ा, उसका भाव यह था कि मालवीयजी के लाहौर-कांग्रेस के सभापति होने पर धृष्ट दल (गरम दल) क्रन्दन कर रहा है कि पहले तो हम लोगों के लिए लज्जा की यही बात है कि कोई मृदुदली सभापति हो और फिर वह ब्राह्मण हो। श्लोक समाप्त होते ही मालवीयजी ने उसका अर्थ करने से रोक दिया और कहा कि ऐसा श्लोक नहीं पढ़ना चाहिए था। मैं झेंप गया और मैंने क्षमा माँगी।

हाथ धोते वक्त एकान्त में मुझ से कहा, "देखो, एक उपदेश देता हूँ, जीवन-भर याद रखना—अभ्युदय की ही कामना करना, किसी को नीचा दिखलाने की नहीं।" उपदेश हृदय में चुभ गया। आज तक उस उपदेश का पालन करता हूँ। बलिहारी धर्मात्मा की! ऐसी हज़ारों स्मृतियाँ हैं। उन्हें कोई कैसे भूल सकता है!

—**ब्रजमोहन व्यास**

स्वतन्त्र भारत के सबसे बड़े सहायक

इधर कुछ कार्यों के सिलसिले में मुझे मुरादाबाद जाना-आना पड़ा है। वहाँ के कुछ प्रमुख रईसों ने मुझे उन दिनों की याद दिलायी जबकि मालवीयजी हिन्दूविश्वविद्यालय के लिए चंदा एकत्रित करने के सम्बन्ध में मुरादाबाद आये थे। उन रईसों ने स्वयं बतलाया कि मालवीयजी जब चंदा माँगने मुरादाबाद आये थे तो उन लोगों ने उन्हें कोई भी चंदा देने से साफ इन्कार कर दिया था। मेरे यह पूछने पर, कि उन्होंने ऐसा क्यों किया था, उन लोगों ने कहा कि बात यह थी कि हमें सरकार का डर था। हम समझते थे कि यदि हमने मालवीयजी को चंदा दिया तो सरकार हमसे नाराज़ हो जायगी; इसीलिए घर पर जब मालवीयजी चंदा लेने आये तो हमने साफ इन्कार कर दिया। पर मन में बड़ी ग्लानि रही। ऐसा महान् ब्राह्मण घर से निराश लौट गया, यह दुःख मन को खाये जा रहा था। अन्त में हम लोगों ने दूसरों के ज़रिये थोड़े-बहुत रुपए मालवीयजी को भिजवाये, अनेक नामों से। ऐसी परिस्थितियों में मालवीयजी महाराज ने करोड़ों का चंदा इकट्ठा करके ऐसे विश्वविद्यालय का निर्माण कर दिया, जैसा चाहने पर भी हमारी सरकार आज स्वयं नहीं बना सकती है. और जिससे परीक्षा पास कर निकले हुए हज़ारों विद्यार्थी विभिन्न क्षेत्रों और विभागों में, जैसे इंजीनियर टैकनिकल इत्यादि में राष्ट्रीय सरकार की महती सेवा कर रहे हैं। उनके अभाव में हमारी सरकार के कामों में काफ़ी कठिनाई पड़ती।

—केशवदेव मालवीय

कोरे उपदेश नहीं

जून का महीना था। मालवीयजी गुजराँवाला का खालसा-कालेज देखने गए जिसपर मार्शल-लॉ के दिनों में बम फेंके गए थे। पंडित मोतीलालजी, स्वामी श्रद्धानन्दजी और मैं साथ था। पीछे एक लम्बी भीड़ भी थी। प्राय: सबके पास छाते थे, केवल मेरे पास न था। पंडित मोतीलालजी ने मेरी ओर देख कर कहा, "तिवारीजी, क्या आप ख़ुदकुशी (आत्म-हत्या) करने पर आमादा हैं ?"

स्वामीजी ने कहा—सवा रुपये का तो मिलता है, एक ख़रीद क्यों नहीं लेते ? मालवीयजी ने भी देखा। वे भीड़ में दाहिने हाथ से खिसकते-खिसकते बायें, जिधर मैं था, आये और छाते की छाया में मुझे लेकर चलने लगे। मैंने हाथ जोड़कर मूक प्रार्थना की कि वे ऐसा न करें। इस पर मालवीयजी ने कहा : देखो, मैं सेवा-समिति का सभापति हूँ, पर काम तो तुम करते हो; क्या मैं तुम्हारी सेवा भी न करूँ ?

इस घटना में तीनों नेताओं के रूप अलग-अलग व्यक्त हो रहे हैं।

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।
पर दु:खे उपकार करे छे मन अभिमान न आणे रे।।

सच्चे वैष्णव

पंजाब के सरकारी अफसर सेवा-समिति के काम में बाधक नहों, इसलिए पंजाब के ले० गवर्नर मैंकेलेगन से मिलानेके लिए मालवीयजी मुझे साथ लेकर शिमला गये। वहाँ मालवीयजी पंडित मोहनलाल की कोठी में ठहरे थे। मेरी आदत रात में पैर सिकोड़ कर सोने की है। मालवीयजी रात में पेशाब करने उठे। मुझे सिकुड़ा हुआ देखकर उन्होंने समझा कि मुझे सर्दी लग रही है। मेरे

ऊपर मालवीयजी ने अपना कम्बल ओढ़ा दिया। पर मैं सिकुड़ा ही रहा। दूसरी बार मालवीयजी फिर पेशाब करने निकले तो एक कम्बल और ओढ़ा गए। तीसरी बार तीसरा कम्बल ओढ़ा गए। मालवीयजी के पास अब एक भी कम्बल नहीं रह गया और सरदी खाते हुए काफ़ी रात उन्होंने बैठे ही बैठे बिता दी। सबेरे मैंने पूछा, ये कम्बल किसने ओढ़ाये? नौकर ने कहा, बाबूजी ने ओढ़ाये होंगे।

पर मालवीयजी ने इस बात का कभी ज़िक्र भी नहीं किया।

—वेंकटेशनारायण तिवारी

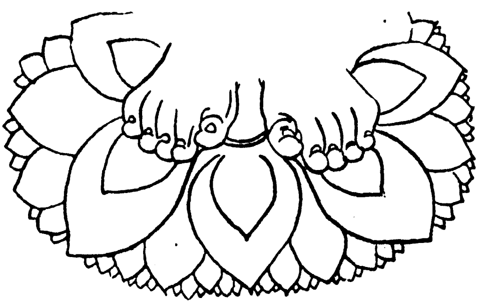

मित्रों के प्रति अपूर्व वफ़ादारी

यह कथा मुझे हमारे प्रान्त के ऐडवोकेट-जनरल पंडित कन्हैयालालजो मिश्र के पिता पं० बैजनाथजी मिश्र ने एक बार सुनायी थी। उनसे सुनकर मैंने इसे बाबूजी, मालवीयजी, को सुनाया और उन्होंने कहा कि हाँ यह बात ठीक है। पं० बैजनाथजी ने बतलाया कि एक बार हिन्दू बोर्डिंग हाउस के हाल में स्वर्गीय डाक्टर सर सुन्दरलालजी, स्वर्गीय बाबू साँवलदासजी कक्कड़, मैं, बैजनाथजी मिश्र तथा मालवीयजी इत्यादि इकठ्ठे थे। सुन्दरलालजी (पुराने कांग्रेसी नेता) के कुछ कार्यों से ये लोग बहुत असन्तुष्ट थे। और उन्हें हिन्दू बोर्डिंग हाउस से, जहाँ रहकर वह विद्याध्ययन कर रहे थे, निकाल देना चाहते थे। अकेले मालवीयजी इस बात का विरोध कर रहे थे। जब बहुमत से उन्हें निकाल देने की बात ही तय हुई, तो मालवीयजी ने कहा कि अब मुझे जल्दी ही एक युनिवर्सिटी बनानी पड़ेगी। सब लोग हँस पड़े। स्वर्गीय बाबू साँवलदासजी कक्कड़ ने कहा कि इतनी बड़ी युनिवर्सिटी बनाने के लिए बहुत धन की आवश्यकता पड़ेगी, और आप हिसाब-किताब रखना जानते नहीं। इस कार्य में आपकी बदनामी हो जाने का डर है। मेरी राय तो नहीं है, कि आप युनिवर्सिटी बनाने के चक्कर में पड़ें। मालवीयजी ने उत्तर दिया—बदनामी भले ही हो जाय, पर युनिवर्सिटी तो बनानी ही है अब। आख़िर ऐसे विद्यार्थी कहाँ पढ़ेंगे ?

और सबसे विचित्र और महान् सुख इस कथा का यह है कि सारी दुनिया और स्वयं सुन्दरलालजी यही मानते रहे कि बोर्डिंग से उनका निष्कासन मालवीयजी द्वारा हुआ और इसका सारा दोष उन्हीं को देते रहे ; पर आत्मरक्षा में भी मालवीयजी ने भी कभी अन्तरंग सभा की कार्यवाही को नहीं खोला। और सारी बदनामी अपने ऊपर ओढ़ ली। मित्रों के साथ किसी प्रकार विश्वासघात नहीं किया। बहुमत के निर्णय को अपना अकेले का निर्णय बताकर, मित्रों के प्रति अपूर्व वफ़ादारी रखने का, यह अपूर्व उदाहरण है।

—राधाकान्त मालवीय

न्याय ईश्वरीय है, उदारता मनुष्यता

एक बार प्रयाग नगर में प्लेग फैला हुआ था। मालवीयजी के पास दो घर थे, एक शहर में, दूसरा सिविल लाइन्स में। प्लेग के कारण जो लोग भी शहर से दूर हट सकते थे, वे शहर छोड़ कर चले गए थे। मालवीयजी को अपने शहरवाले मकान से कुछ काग़ज़ लाने थे और मैं भी उनके साथ था। जिस मुहल्ले में मकान था, वह सारा का सारा मुहल्ला जन-शून्य था। उनके ठीक पड़ौस वाले मकान के दरवाज़े पर केवल एक वृद्धा बैठी हुई थी। उस बेचारी अभागी बुढ़िया को उसके घर वाले मकान ताकने के लिए छोड़ गए थे। मालवीयजी ने 'चाची', जो एक सौजन्य का शब्द है, क्योंकि वृद्धा उनकी सजातीया थी, कहकर उनका अभिनन्दन किया और उनसे उनके स्वास्थ्य इत्यादि के सम्बन्ध में दयालुता और ऐसी सहानुभूति-पूर्ण भाषा में पूछ-ताछ करते रहे, जिसे ममतापूर्ण भी कहा जा सकता है।

अपने यौवन काल में मैंने उन्हें बड़ों के साथ हाथ जोड़कर बातें करते देखा है। वह शब्दों से परे सौजन्य-पूर्ण तथा दूसरों की भावनाओं का आदर करने वाले हैं, और इसमें कोई बनावटीपन नहीं है। जो कुछ भी वह करते हैं, वह बिल्कुल सत्य और ईमानदारी से प्रेरित है। ईमानदारी के लिए वह सदैव दूसरों को सम्मानित करने को तैयार रहते हैं। वह किसी से मतभेद रख सकते हैं, किन्तु उसकी ईमानदारी पर वह कभी शंका नहीं करते। दूसरों के प्रति उनकी उदारता प्रायः मनुष्यों-सम्बन्धी उनकी पहचान को दोषपूर्ण कर देती है। उनकी धारणा न्याय की अपेक्षा उदारता पर अधिक आश्रित होती है।

सज्जनता की मूर्ति

यह घटना द्वितीय केन्द्रीय व्यवस्थापिका के एक अधिवेशन के समय की है। उस अधिवेशन में शारदा बिल, जिसके अनुसार विवाह की कम-से-कम आयु

निर्धारित की गई थी, पर विचार हो रहा था। स्वर्गीय लाला लाजपतरायजी राष्ट्रीय दल के नेता थे और मैं उसका एक सदस्य। मालवीयजी तो दल के निर्माता ही थे; उस बिल के सम्बन्ध में मालवीयजी के अपने दृढ़ विचार थे और उसके विपरीत लालाजी और मेरे अपने विचार भी उतने ही दृढ़ थे। मालवीयजी ने अपने पक्ष-समर्थन में ज़ोरदार भाषण दिया। लालाजी ने मुझ पर ज़ोर दिया, मैं भी विवाद में भाग लूँ। फलतः मालवीयजी के बाद मैं बोला, और अपने भाषण में मैंने मालवीयजी के मत का जोरदार विरोध किया। मेरे भाषण के बाद अधिवेशन भोजन के लिए स्थगित हो गया और मैं मालवीयजी के साथ फिर बिल के पक्ष और विपक्ष में बात करने लगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे विरोध ने उनके मन पर रंच-मात्र प्रभाव नहीं डाला था।

हम लोग बातें कर ही रहे थे कि बिल के एक अन्य समर्थक महाशय आ गए और हमारी बहस में वह भी हिस्सा लेने लगे। प्रत्यक्ष था, कि वह उत्तेजित थे और उन्होंने मालवीयजी की व्यक्तिगत आलोचना करनी शुरू कर दी। पहले तो मालवीयजी ने अपना बचाव किया; किन्तु जब उन्होंने देखा कि व्यवस्थापिका सभा के क्रुद्ध सदस्य बदमज़गी पैदा करने जा रहे हैं, तो उन्होंने धीरे से कहा, "यह बात-चीत मेरी प्रारम्भ की हुई नहीं है" और वह मेरी ओर मुख़ातिब हो गए। मालवीयजी सज्जनता की साक्षात् मूर्ति हैं। वह कोई कटु या अप्रिय वचन बोलने वाले अन्तिम व्यक्ति हैं। वह स्वयं पीड़ा सहन कर लेना कहीं अधिक पसन्द कर लेंगे, बनिस्बत इसके कि उनके कारण किसी दूसरे को क्षोभ पहुँचे। दूसरों की भावनाओं के प्रति उनकी अत्यधिक उदारता ही, उन्हें कभी-कभी शासन तथा व्यवस्था-सम्बन्धी मामलों में सख़्त कार्यवाही करने से रोकती है।

मालवीयजी एक सज्जन हिन्दू के श्रेष्ठ नमूना हैं। अभिमान उनके स्वभाव को छू नहीं गया है और उनका सज्जनतापूर्ण व्यवहार केवल धनियों, प्रभावशालियों तथा शक्तिवानों के लिए ही सुरक्षित नहीं है। वह जब वकालत करते थे, उस समय हम लोगों के दफ्तर एक ही मकान में थे, और इस तरह वह मेरे मुंशी से भी परिचित हो गए थे। एक बार उन्होंने किसी त्यौहार पर मुझे अपने यहाँ भोजन के लिए आमन्त्रित किया। जब मैं उनके घर पहुँचा, तो उन्होंने मुझ से पूछा कि मेरे मुंशी महोदय कब तक आयेंगे। जब मैंने उन्हें बतलाया कि मुंशी को उन्होंने

निमन्त्रण नहीं दिया था तो वह अत्यधिक दुःखी हुए। वह उसे भी निमन्त्रण देना चाहते थे, पर भूल गए थे। दो बार तो उन्होंने मुझ पर अपना दुःख प्रकट किया, और दूसरे दिन जब वह दफ्तर आये, तो उन्होंने हमारे मुंशी से बार-बार क्षमा-प्रार्थना की।

सबके मालवीयजी

मालवीयजी बहुत ही दयावान् हैं, और कभी किसी को निराश नहीं करते। एक बार हम लोग नैनीताल से नीचे आ रहे थे और घोड़े को सुस्ता लेने के लिए रास्ते में एक स्थान पर रुक गए। खट से एक आदमी न जाने कहाँ से निकल आया।

उसके हाथों में फल और फूल थे, और उसने संस्कृत के कुछ श्लोक पढ़े। मालवीयजी ने उसके हाथ जोड़े और उसे दो रुपये दिये—एक ऐसे व्यक्ति को, जो देखने से सम्भवतः पेशेवर भिखारी मालूम पड़ता था ; अधिकतर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ध्यान भी न देते। जब वह वकालत करते थे, और स्वयं भी छोटे वकील थे, उस समय भी वह अपने मुकदमे देकर, अपने से छोटे वकीलों की सहायता करते रहते थे।

देश की पीड़ा का दर्द

बहुत वर्षों पहलेकी बात है, प्रयाग में कायस्थ-पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। उस उत्सव का सभापतित्व करने के लिए प्रयाग-हाईकोर्ट के एक अंग्रेज न्यायाधीश सज्जन अपनी अविवाहिता कन्या के साथ आये थे। वह कुमारी शक्ति तथा स्वास्थ्य की साक्षात् प्रतिमा थी। उत्सव की समाप्ति पर मालवीयजी ने मेरी ओर मुड़कर पूछा, "तुमने कुछ देखा ?" मैंने उत्तर दिया, जी हाँ, मैं भी यही सोच रहा था। उन्होंने कहा, "हमारे देश की लड़कियाँ ऐसी स्वस्थ कब होंगी !"

ग़रीबों के देवता

मालवीयजी की मधुरता और शालीनता किसी का भी हृदय जीत लेती है। यदि कोई उनका अतिथि बनता है, तो वह उसको आराम पहुँचाने के लिए स्वयं कोई भी कष्ट उठाने तथा कुछ भी करने को सदा तैयार रहते हैं। रात या दिन, किसी समय भी हर एक का उनके यहाँ स्वागत होता है। जब वह बीमार होते हैं, और डाक्टरों की किसी से न मिलने की आज्ञा होती है, उस समय भी वह मिलने आने वालों से मिलने के लिए ज़ोर देते हैं। एक बार मेरी उपस्थिति में बनारस के उपकुलपति-निवास में, उनके किसी पुत्र ने शिकायत की, कि सभी तरह के लोग बिना बुलाये कमरे में चले आते हैं, और कभी-कभी तो टेबिल पर फैले हुए पत्रों को भी पढ़ने लगते हैं। मालवीयजी ने धीरे से कहा कि, "बेचारे अधिक ज्ञान नहीं रखते, नुक़सान पहुँचाने का तो उनका भाव कभी होता ही नहीं।" उनके यौवन तथा भावना-भरे पुत्र ने कहा, कि अब मैं ऐसी बातों को सख़्ती से रोकने जा रहा हूँ। तुरन्त ही मालवीयजी ने सज्जनता-पूर्ण किन्तु कठोर शब्दों में उत्तर दिया, "जब तक मैं इस मकान में रहता हूँ, ग़रीब लोग बराबर बिना किसी बाधा के ही आते रहेंगे।"

अपूर्व ईमानदार मित्र

मालवीयजी अपने मित्रों के प्रति अत्यधिक ईमानदार हैं। उस समय की सबसे बड़ी कानून-सभा में किसी बिल, सम्भवतः 'प्रेस-ऐक्ट', के सम्बन्ध में श्रीगोखले और मालवीयजी ने विरोधी रुख लिये। समाचार-पत्रों में जहाँ श्रीगोखले की, उनके मत के कारण, अत्यन्त तीव्र शब्दों में निन्दा की गई, यहाँ तक कि उनपर निर्भीकता की कमी का आरोप लगाया गया; वहाँ मालवीयजी की अत्यधिक प्रशंसा की गई और उनकी बहादुरी तथा निर्भीकता का बहुत ही आदर किया गया।

जब इस बिल पर बहस चल रही थी, एक रेलवे-स्टेशन पर मेरी उनसे अचानक मुलाक़ात हो गई। वह अकथनीय वेदना और दुःख का अनुभव कर रहे थे। उन्होंने मुझसे कहा, "गोखले कायर है और मैं बहादुर हूँ—यह कहा जा

रहा है। कितने परिताप की बात है ! यह हृदय-विदारक बात है ! मैं कितना चाहता हूँ कि मैं उनके साथ होता। लेकिन मेरे विश्वासों ने ऐसा करना मेरे लिए असम्भव बना दिया है। जिस दिन मैं ऐसा करूँगा, अपने विश्वासों के विपरीत जाऊँगा, उस दिन मैं अपना यज्ञोपवीत तोड़कर फेंक दूँगा।"

वह बहुत ही दुःखी थे, और अपने मित्र की कटु आलोचना को, अत्यधिक अनुभव कर रहे थे।

—मुंशी ईश्वरशरण

विचारों की अपूर्व दृढ़ता

सन् १६१० में प्रधान भारतीय कानूनी कौंसिल का अधिवेशन हुआ। उस समय वाइसराय ही उसके प्रेसीडेण्ट होते थे। प्रसिद्ध देश-भक्त लार्ड सत्येन्द्रप्रसन्न सिन्हा, भारतवासियों में पहले-पहल, सन् १६०६ में वाइसराय की कार्यकारिणी कौंसिल के मेम्बर थे। लार्ड सिन्हा ने उस समय कौंसिल में भारत के अख़बारों का गला घोटने वाला एक क़ानून पेश किया। उस समय श्री गोखले, श्री मछोलकर, डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा, बाबू भूपेन्द्रनाथ बोस और पूज्य मालवीयजी आदि उस प्रधान भारतीय कौंसिल के मेम्बर थे। उस समय कांग्रेस में और देश में श्री गोखले की बड़ी तूती बोलती थी, वे बड़े योग्य विचारवान् नेता समझे जाते थे। कौंसिल के मेम्बर की हैसियत से, उन्होंने समय-समय पर गवर्नमेण्ट के दमनकारी क़ानूनों का जैसा प्रभावशाली, अपूर्व और तीव्र विरोध किया है, वह मर्मज्ञों से छिपा नहीं है।

देश के दुर्भाग्य से मि० गोखले ने उक्त प्रेस-क़ानून का समर्थन करना उचित समझा था। पूज्य मालवीयजी उस क़ानून के विरोधी थे। श्री गोखले और श्री मछोलकर ने पूज्य मालवीयजी को एकान्त में समझाया कि आप भी कृपा कर इस क़ानून का समर्थन करें, और विरोध न करें; यदि विरोध करेंगे, तो आप पर भी गवर्नमेण्ट की बुरी दृष्टि पड़ेगी और आप भी क्रान्तिकारी दल वालों में समझे जायेंगे।

अपने ऐसे योग्य और सम्मानित मित्रों के ऐसा कहने पर पूज्य मालवीयजी चिन्तित हो गए, कि हम क्या करें; क्या न करें, और ईश्वर से प्रार्थना करने लगे, कि तुम ही इस संकट से हमें उबारो। पूज्य मालवीयजी ने गजेन्द्र-मोक्ष का पाठ किया और ईश्वर से प्रार्थना की, "जैसे आपने गजेन्द्र की रक्षा की, उसी तरह हमारा संकट भी दूर करो!" गजेन्द्र-मोक्ष का पाठ समाप्त करने पर पूज्य मालवीयजी के अन्तःकरण में स्पष्ट रूप से यह प्रेरणा हुई कि, "वह बिलकुल ठीक हैं, और

बिना संकोच के हमें प्रेस-ऐक्ट का विरोध करना ही उचित है। यही बात उन्होंने श्री गोखले और श्री मछोलकर से कह दी कि "भाई, चाहे गवर्नमेण्ट की मुझ पर भली दृष्टि लगे या बुरी, मेरे अन्तःकरण में तो स्पष्ट रूप से इस क़ानून का विरोध करने की ही प्रेरणा हुई है; अतएव अब मैं तो, कल कुछ भी हो, प्रेस-ऐक्ट का विरोध ही करूँगा।"

यह स्मरण रखने योग्य बात है कि उस सारी कौंसिल में पूज्य मालवीयजी और बाबू भूपेन्द्रनाथ बोस केवल इन दो ही सज्जनों ने उस प्रेस-क़ानून का विरोध किया था। उसका समर्थन करने वालों में श्री गोखले और श्री मछोलकर आदि अनेक सदस्य तो थे ही। यही नहीं, बिहार के प्रसिद्ध बैरिस्टर डा० सच्चिदानन्द सिन्हा, जो 'हिन्दुस्तान रिव्यू' पत्र के प्रसिद्ध सम्पादक थे, उन्होंने भी कौंसिल के सदस्य रूप में इस अनर्थकारी क़ानून का समर्थन किया; यह भी न सोचा कि उनकी सम्पादकीय स्वतन्त्रता तो कल ही से छिन जायगी।

महीने-दो महीने बाद श्री गोखले को अपना भ्रम स्पष्ट रूप से विदित हो गया कि इस प्रेस-क़ानून का समर्थन करके उन्होंने वस्तुतः गलती की है। यहाँ इस घटना के उल्लेख करने का यही अभिप्राय है कि पूज्य मालवीयजी की बुद्धि बहुत ही पारदर्शी और तीव्र थी और उनमें यह बड़ी विशेषता रही है कि वे जिस बात को ठीक समझते थे उसका, बहुत स्वतन्त्रता तथा दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करते थे, चाहे वैसा करने में कभी-कभी लोगों में उन्हें अप्रिय ही क्यों न होना पड़े। वे और लोगों का मुँह देखकर अपना मत स्थिर नहीं करते थे। प्रेस-ऐक्ट का विरोध करने पर पूज्य मालवीयजी का नाम देश-भर में गूँज गया। यह घटना मैंने स्वयं पूज्य मालवीयजी से सुनी है। उस समय मेरा उनके 'अभ्युदय' से सम्बन्ध था।

—भगवानदास हालना

मुसलमानों के दुश्मन नहीं

चुनावों के दिन थे। मालवीयजी रेल से बस्ती जा रहे थे, एक चुनाव-सभा में भाषण देने के लिए; लखनऊ से मैं भी उनके साथ हो लिया था। हम दोनों दूसरे दर्जे के एक ही डिब्बे में बैठे थे। रास्ते में ही शाम हो गई। मालवीयजी उठे, एक गिलास में पानी लेकर सन्ध्या करने बैठ गए। मेरी नमाज़ का वक्त भी हो रहा था, पर संकोचवश मैं अपनी सीट पर ही बैठा रहा। उनके सामने नमाज़ पढ़ने की मेरी हिम्मत नहीं पड़ रही थी कि इतने में उन्होंने इशारे से मुझे अपने पास बुलाकर कहा, "तुम कैसे मौलाना हो जी? नमाज़ नहीं पढ़ते? शाम की नमाज़ कज़ा करोगे क्या? उठो, नमाज़ पढ़ो, वक्त हो गया।" और मैंने चुपचाप उठकर उनके सामने ही नमाज़ पढ़ी। पूजा करके जब वह उठे तो बहुत खुश-खुश नज़र आये। मुझे बुलाकर मेरी पीठ ठोकी और कहा, ये "मैं कब यह कहता हूँ कि मुसलमान अपने मज़हब का पालन न करें! इसके विपरीत मैं तो हिन्दू और मुसलमान दोनों से ही कहता हूँ कि अपने-अपने मज़हब और धर्म पर दृढ़ रहो। तभी सब की दोस्ती सच्ची और पक्की होगी। मेरी मुख़ालिफ़त तो छुरी-काँटे वाली दोस्ती से है। वह कभी चलेगी नहीं।"

—मौलाना शाहिद फाख़री

चिता चढ़ने तक देश की चिन्ता

सन् १९४६ की बात है। शिमला जाने से पहले गांधीजी दिल्ली में ८५ वर्ष के वृद्ध मालवीयजी से विदा लेने गये। सोमवार था, इसलिए गांधीजी के लिए मौन रहने का दिन था। बातचीत का जवाब वह लिखकर देते थे। मालवीयजी तकिये के सहारे बैठे थे।

गांधीजी ने पूछा—"कैबिनेट-मिशन और कारोबारी समिति के सदस्य तो शिमला जा रहे हैं, आप यहाँ रह कर क्या करेंगे ?"

मालवीयजी ने जवाब दिया—"काशी वापस जाऊँगा।"

इससे गांधीजी को कुछ शान्ति मिली। उन्हें भय था कि कहीं उत्साह में आकर मालवीयजी भी शिमला जाने की ज़िद न कर बैठें। उनकी अवस्था बहुत हो गई थी और स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता था, फिर भी वह थे सम्पूर्ण चेतनाशील।

उनकी इस चेतना पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए गांधी जी ने पूछा—'आप यह सब चिन्ता कब छोड़ेंगे ?"

मालवीयजी ने विनोद में कहा—"चिन्ता जब मुझे छोड़ेगी, तब।"

गांधीजी ने लिखकर पूछा—"तो मेरे जैसों के लिए कुछ शेष नहीं छोड़ेंगे ? इससे तो मैं जितना हूँ, उससे भी अधिक जवान हो जाऊँगा।"

"यह जवान तो अभी बहुत दिनों तक जवान रहने वाला है।" मालवीयजी ने बहुत धीमी आवाज़ में प्रेमपूर्वक कहा।

"आप मेरे पर जो भार छोड़ना चाहते हों, छोड़ दें। पर आप अब सब चिन्ता छोड़ दें और अपनी शक्ति मुझे प्रदान करें !"

"नाम-जप से बढ़कर कोई शक्ति नहीं है।" मालवीयजी ने उत्तर दिया।

"नाम-जप तो निरन्तर चलता ही है, लेकिन आपके जैसा ज्ञान कहाँ से लाऊँ ? यह खुशामद नहीं कर रहा हूँ, लेकिन मेरे पास सचमुच भागवत और महाभारत का ज्ञान नहीं है।"

"लेकिन आपके पास राम-नाम तो है न ! यह तो सारे ज्ञान का निचोड़ है।"

"निचोड़ है, यह तो मैं जानता हूँ ; लेकिन फिर भी आप के ज्ञान पर मुझे ईर्ष्या होती है। अब आपको स्वस्थ बनना होगा। अपना सारा ज्ञान अब इसमें लगाइये।"

"मैं स्वस्थ हो जाऊँगा।" मालवीयजी ने कहा।

तभी मालवीयजी के पुत्र राधाकान्तजी ने गांधीजी से कहा—"वनस्पति घी सम्बन्धी जो लेख आपने 'हरिजन' में छपाया था, वह पिताजी को बहुत अच्छा लगा।"

तुरन्त ही मालवीयजी बोल उठे—"यह वनस्पति घी बहुत भयंकर वस्तु है। एक तरफ वनस्पति घी का प्रचार हो रहा है और दूसरी तरफ गायों का क़तल हो रहा है। इन दोनों के बीच लोगों के जीवन की डोरी कटती जा रही है। गाय के दूध के लिए आपने जो कुछ किया है, उससे तो मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ।"

गांधीजी ने कहा—"यह तो करता ही रहूँगा, पर इसमें मुझे व्यापारियों की मदद चाहिए। ऐसा हो, तभी यह योजना आगे बढ़ सकती है। अच्छा, तो अब विदा लूँ।" गांधीजी ने प्रणाम किया और मालवीयजी ने हँस कर विदा दी।

—गोपालदास नागर

सरल हिन्दी

१९३० का ज़माना था। प्रयाग के पुरुषोत्तमदास पार्क में एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें मालवीयजी और अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल के भाषण हुए। अध्यक्ष पटेल हिन्दी नहीं जानते थे। उन्होंने अपना भाषण अंग्रेजी में ही दिया। उसका अनुवाद कर जनता को समझाने की बात थी। हिन्दी के एक प्रसिद्ध नेता ने अनुवाद करना प्रारम्भ किया, पर उनकी हिन्दी साहित्यिक हिन्दी थी, जनता उसे समझ नहीं पा रही थी। और शोर-गुल मचता रहा। अन्त में मालवीयजी स्वयं अध्यक्ष पटेल की वक्तृता का अनुवाद करने को खड़े हुए। ऐसी सरल हिन्दी में उन्होंने वक्तृता का अनुवाद करना आरम्भ किया कि लोग उसे चाव से सुनने और समझने लगे। सारा कोलाहल शान्त हो गया और सम्पूर्ण सभा में शान्ति छा गई। वह द्विवेदी-मेले में भी ऐसी ही सरल हिन्दी में बोले थे।

—सी० बालकृष्ण राव

गंगा की धारा अविच्छिन्न रहे !

काशी में अपने स्वर्गवास के कुछ ही दिनों पहले मालवीयजी महाराज प्रयाग आये हुए थे और यहीं जार्ज-टाउन वाले अपने बँगले पर ठहरे हुए थे। मुझे स्मरण नहीं कि उन्होंने मुझे बुलाया या मैं स्वयं उनके दर्शनों के लिए वहाँ गया था। तब वह बहुत अशक्त हो चुके थे, और उनकी आवाज़ बहुत ही मन्द पड़ चुकी थी। वह बहुत धीमे बोलते थे, अतः सुनने में कठिनाई होती थी। उन्होंने कुछ कहा, पर मेरी समझ में नहीं आया। मैं स्वयं कानों को उनके मुख के पास ले गया। उन्होंने कहा—"गंगाजी की धारा को अविच्छिन्न रखने के लिए मुझे बहुत प्रयत्न करने पड़े हैं। हरद्वार में केवल ६ फुट का छेद बाँध में रह गया है। हो सकता है कि मेरे बाद यह समस्या फिर कभी खड़ी हो और उस ६ फुट के छेद को भी बन्द करने का प्रयत्न किया जाय। यदि ऐसा कभी हो तो तुमसे मैं कह जाता हूँ कि तुम उसका विरोध करना और जैसे भी हो, ऐसा होने मत देना।"

अपने जीवन के अन्तिम क्षण भी मालवीयजी को कोई चिन्ता थी, तो अपने धर्म और अपनी सभ्यता की रक्षा की ! ऐसी थी उनकी महानता ! मैं आज भी इस बात को सोच कर चकित रह जाता हूँ।

—शिवनाथ काटजू

क्रान्तिकारियों के पिता

यों तो आज तक दुनिया में प्रातःस्मरणीय अनेक महापुरुषों का जन्म हुआ है और जहाँ तक पूज्य मालवीयजी का सम्बन्ध है, वे भी उन्हीं में से एक थे; किन्तु केवल इतना कह देने भर से ही उनकी बहुमुखी प्रतिमा का पूर्ण रूप से विश्लेषण नहीं होता। यह तो सभी जानते हैं कि यदि वह कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगौर अथवा शैक्सपियर आदि की भाँति केवल सरस्वती की आराधना करते, तो आप इनमें से किसी से भी पीछे नहीं रहते। यदि आप केवल देश, समाज तथा मानवता के ही पुजारी होते तो महात्मा गांधी, टाल्स्टाय ऐसे ही अन्य किन्हीं भी युग-प्रवर्तकों से पीछे न ठहरते, यदि आप केवल दानवीर ही बनना चाहते तब भी आपका दान किसी भी श्रेष्ठ दाता से कम न होता; कारण, आपके जीवन में अनेक मौके आये थे जिन मौकों पर आप कर्ण या कारनेगी से भी श्रेष्ठ दानी कहलाये होते। यह तो सभी जानते हैं कि आप से बढ़कर दुनिया में आजतक कोई भिक्षुक नहीं बन पाया। केवल अपनी इसी प्रतिभा के बल पर आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी महान् संस्था की स्थापना की।

काकोरी-केस के तथा भगतसिंह के कितने ही साथियों को इस विश्व-विद्यालय ने ही जन्म दिया। मैं भी क्रान्तिकारी आन्दोलन में इसी विश्व-विद्यालय के किसी छात्र की प्रेरणा के फलस्वरूप ही कूद पड़ा था। केवल इतना ही नहीं, मुझे इस बात का भी गर्व है कि उस युग में मैं भी वहीं का छात्र था।

इन बातों के अलावा पूज्य मालवीयजी के निधन से देश के क्रान्तिकारी लोगों ने एक ऐसे पिता को खोया है जिसकी पूर्ति और कोई भी दूसरा देश-पिता नहीं कर सकता।

जब भा कभी किसी काम के लिए आर्थिक या बौद्धिक सहायता की

आवश्यकता होती थी तो कोई भी, क्रान्तिकारी की हैसियत से, यदि उनके सामने पहुँचता था, उसे वे उचित सलाह आदि दिये बिना विदा न करते थे। आज न तो पूज्य मालवीयजी ही हैं और न भारतीय क्रान्तिकारियों के कमाण्डर-इन-चीफ पं० चन्द्रशेखर आज़ाद ही, नहीं तो दुनियाँ को पता चलता कि पूज्य मालवीयजी का भारतीय क्रान्तिकारियों के साथ क्या सम्बन्ध था।

आज़ाद के साथ पूज्य मालवीयजी के पास जाने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ था। उस समय ब्रिटिश अनुचरों ने भाई आज़ाद के लिए मुँह-माँगे पुरस्कार की घोषणा कर रक्खी थी और उनको मदद पहुँचाने वालों का भी पता लगा रही थी तथा पता लगाने वालों की मुराद पूरी करने का वादा सरकार ने किया था; तथापि पूज्य मालवीयजी का व्यवहार आज़ाद के साथ दिवंगत पुत्र के पिता-जैसा ही था।

आज पूज्य मालवीयजी के निधन ने दुनिया को एक उपयुक्त पिता से ही वंचित नहीं किया, बल्कि दुनिया को दिवंगत पुत्रों के एक पिता से भी वंचित होना पड़ा है।

—मनमोहन गुप्त
मनमाड-बम केस

क्रान्तिकारियों के सहायक

क्रान्तिकारी दल के एक नेता पुलिस से बचने के लिए बिहार से पैदल ही भागे। उनकी गर्भवती स्त्री भी उनके साथ ही थी। काशी से ४५ मील पहले ही उनकी स्त्री को प्रसव-वेदना हुई और उन्होंने एक बच्चे को जन्म दिया। भयवश वे वहाँ किसी से कोई सहायता भी प्राप्त नहीं कर सकते थे। उन्होंने मुझे सूचना दी। मैं क्या करता! कहाँ से रुपया लाता, कौन मुझे मोटर देता! कुछ सूझा, सीधे मालवीयजी के पास पहुँच गया और उनसे सारी कष्ट-कथा कह सुनायी। सुनते ही वह मुझसे बिगड़ कर बोले—"लज्जा नहीं आती? मुझसे पूछने आये हो? आधा घण्टा खराब कर दिया। कितने कष्ट में होंगे वे बेचारे! जाओ, मोटर लेकर तुरन्त और उन दोनों को अस्पताल में ले जाकर भर्ती करा दो।" मैं तुरन्त उन्हीं की मोटर लेकर गया और उन दोनों को लाकर अस्पताल में भर्ती करा दिया। दो महीने तक वे दोनों अस्पताल में ही रहे और पुलिस वालों को उनका कुछ भी पता न लग सका।

सच्चे प्रजातन्त्रवादी

साइमन-कमीशन भारत आया हुआ था। कमीशन के अध्यक्ष सर जॉन साइमन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय देखने और दीक्षान्त भाषण करने के लिए आने वाले थे। विद्यार्थियों में बड़ा जोश था। व्यक्तिगत रूप में भी सर जॉन साइमन का विश्वविद्यालय में आना हम विद्यार्थियों को पसन्द नहीं था। पूज्य बाबूजी (मालवीयजी) को मालूम हुआ तो उन्होंने हम लोगों से विद्यार्थियों की एक सभा करके इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए कहा। शर्त यह लगायी कि उस सभा में मैं भी बोलूँगा। बात तय हो गई। सभा बुलायी गई और लोगों में से ही एक विद्यार्थी सभापति चुने गए। सभा हो ही रही थी कि नियत समय पर मालवीयजी की मोटर आ पहुँची। उन्होंने सभापति की आज्ञा लेकर सभा में प्रवेश किया और उनकी अनुमति प्राप्त कर ही बोले भी। इसके बाद सभा का

मत लिया गया और जब बहुमत हमारे पक्ष में हुआ तो उन्होंने स्वयं खड़े होकर घोषणा की कि चूँकि विद्यार्थियों की इच्छा नहीं है इसलिए सर जॉन साइमन नहीं बुलाये जायेंगे। रात में उन्होंने हम लोगों को फिर घर पर बुलाया, वह उनके दूध पीने का समय था। उन्होंने पहले हम लोगों को दूध पिलवाया, तब स्वयं लिया। उसी बातचीत की प्रसंग में उन्होंने हम लोगों को बतलाया कि अजमेर में १८९० के क़रीब जो क्रान्तिकारी षड्यंत्र का मुकदमा चला था, उसमें उनका भी नाम था।

—श्रीकृष्णदास

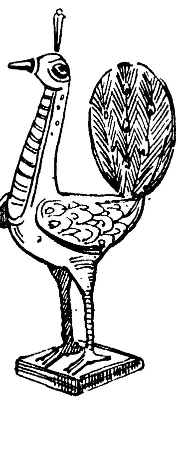

महान् आशावादी

मालवीयजी को भिखारी-सम्राट् कहा गया है और यह शब्दशः सही है। निराधार उन्होंने विश्वविद्यालय की योजना बनायी और एक करोड़ से अधिक रुपये इकट्ठे कर लिये। विश्वविद्यालय प्रारम्भ होने के पहले की बात है। मैं एक दिन उनके पास बैठा हुआ था। वह मुझ-जैसे एक साधारण विद्यार्थी की ओर मुड़े और मुड़ कर पूछने लगे "बताओ शंकर ! क्या हमारे देश में दस ऐसे नरेश नहीं हैं जो प्रत्येक पाँच-पाँच लाख, पच्चीस ऐसे जो दो-दो लाख, और पचास ऐसे जो एक-एक लाख रुपये मुझे दे सकें ?" इस तरह वह जोड़ते और हिसाब लगाते रहे। यहाँ तक कि उनका कुल जोड़ एक आश्चर्यजनक संख्या तक पहुँच गया।

जिह्वा पर सरस्वती

इलाहाबाद के वकीलों के नेता और प्रयाग-विश्वविद्यालय के भारतीय उप-कुलपति पं० सुन्दरलालजी मालवीयजी के अनन्य मित्र थे। पर वह एक हद तक सतर्कतापूर्वक काम करने वाले थे। उन्हें विश्वास नहीं था कि मालवीयजी का विश्वविद्यालय कभी बन सकेगा। एक दिन नैनीताल में सुबह के समय घूमते हुए सुन्दरलालजी ने मजाक-मजाक में मालवीयजी से पूछा : "कहिये, आपका खिलौना विश्वविद्यालय कब शुरू होने जा रहा है ?"

"बहुत जल्दी, सुन्दरलालजी ! और आप ही उसके प्रथम उपकुलपति होंगे।"—मालवीय जी ने उत्तर दिया। और वैसा ही हुआ। मालवीयजी उस समय जैसे भविष्यवाणी कर रहे थे। इस बात के कुछ ही वर्षों के बाद विश्वविद्यालय ने काम करना प्रारम्भ कर दिया और पंडित सुन्दरलालजी ही उसके प्रथम उपकुलपति भी बने।

अपूर्व भाषणकर्ता

मुझे महान् दादाभाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, श्री गोपालकृष्ण गोखले तथा श्री बाल गंगाधर तिलक के व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ये सभी अत्यधिक विशेषताओं वाले मनुष्य थे और इन लोगों ने न केवल अपने समय पर, बल्कि भावी पीढ़ियों पर भी अपनी छाप छोड़ी है; फिर भी इन्हें वक्ता की कोटि में नहीं रख सकता। इनके व्याख्यानों में तर्क-शक्ति तथा देश-भक्ति का जोश था, किन्तु कोरी वक्तृत्व-शक्ति की दृष्टि से ये बंगालियों से बिल्कुल भिन्न थे। दक्षिण भारत में जिन्हें मैंने सुना है, उनमें महामाननीय श्री श्रीनिवास शास्त्री से किसी की भी तुलना नहीं की जा सकती······मैं नहीं समझता कि पंजाब ने लाला लाजपतराय से बढ़कर कोई वक्ता पैदा किया है। उनके भाषणों से आग बरसा करती थी। वह अपने श्रोताओं को जोश में बहा ले जाते थे। वह अंग्रेजी में अच्छा बोलते थे, पर हिन्दुस्तानी में तो बहुत-बहुत ही अच्छा। उनके शब्द हृदय में सीधे घर कर लेते थे। युक्तप्रान्त के सबसे बड़े वक्ता हिन्दू विश्वविद्यालय के जनक, तथा जब तक पं० मोतीलाल नेहरू ने राजनीति में प्रवेश नहीं किया, तब तक इस प्रान्त के एकछत्रनेता निश्चित रूप से पं० मदनमोहन मालवीय थे। अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में ही मदनमोहन मालवीय की रजत-जिह्वा अपने समकालीनों द्वारा सदैव अजित रही। उनका सुन्दर मुखड़ा, उनकी आकृति, उनकी मधुर मुस्कान, प्राचीन गाथाओं के उल्लेख उनके भाषणों को बहुत ही मोहक और प्रभावपूर्ण बना देते थे।

—शंकरशरण

अजातशत्रु महामना

सन् १९०८ से लेकर मालवीयजी के अन्त समय तक मैंने उन्हें बहुत नज़दीक से देखा था। उन्होंने किसी के लिए भी, विरोधी के लिए भी नहीं भूल कर भी कटु शब्द का व्यवहार कभी नहीं किया। वह अजातशत्रु थे। वह लोगों की व्यक्तिगत सहायता बहुत करते थे। गांधीजी को छोड़ कर उनसे बड़ा भारतीय कोई नहीं हुआ।

—हृदयनाथ कुंजरू

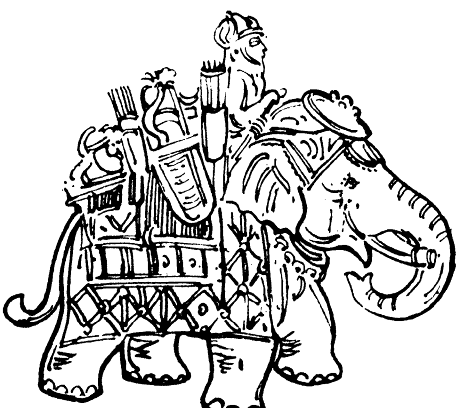

महतो महीयान्

मालवीयजी के परम प्रिय मित्र तथा प्रशासक श्री बी० कृष्णास्वामी अय्यर ने, जो कि स्वयं एक असाधारण वक्ता थे, पंडितजी के उद्देश्य की सफलता देख कर कहा था "पंडितजी, आपका कार्य बहुत ही महान् है !" जब मैंने १६२५ में उनसे काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय तथा उसके जन्मदाता के विषय में कहा तो वह शोक-मग्न होकर बोले—"आहा, मैं कितना चाहता हूँ कि मेरे मित्र कृष्णास्वामी अय्यर आज मेरे स्वप्नों को मूर्त्त होते हुए देखने के लिए जीवित होते।" जब वे अपने मित्रों से बातें करने लगते हैं, उस समय उनके शब्दों में निजत्व और ममता का एक रस रहता है। उनकी मित्रता अटूट है, और उनकी स्मृति आश्चर्यजनक। जब वे मदरास आते और आश्रम में ठहरते तो हम लोगों से पूछते—"वैद्यक शास्त्र वाले मेरे मित्र कहाँ हैं ?" रायबहादुर ए० कृष्णास्वामी अय्यर, जो मेरे पिता द्वारा स्थापित आयुर्वेदिक डिसपैंसरी के ट्रस्टी हैं, पंडित जी के परिचितों में से हैं। जिन्हें वे एक बार देख लेते हैं, उन्हें कभी भी नहीं भूलते। यदि कोई उनसे आयु में बड़ा होता है तो वे उसके सम्मानार्थ अपनी पगड़ी उतार कर उसके चरणों पर अपना सिर भी रख सकते हैं। ऐसा वे बहुधा करते हैं। एक बार उन्हें मालूम हुआ कि मेरी माताजी घर में हैं। पंडितजी ने उनका चरण छूने का आग्रह किया और अन्त में उन्होंने उसे पूरा भी किया और उनसे आशीर्वाद प्राप्त करके ही रहे।

जनवरी, १६१७ की बात है। मालवीयजी औद्योगिक कमीशन के सदस्य होकर, जो उस समय मद्रास में जाँच कर रहा था, यहाँ आये थे। उन दिनों एक दिन वे काम से इतना थक गए कि शाम को बाहर हवा में निकल आए। बाहर हम लोग पं० हृदयनाथ और गोपीनाथ कुंजरू के साथ वार्तालाप कर रहे थे। मेरे भाई उपर्युक्त दोनों सज्जनों तथा सी० बी० सुन्दरम्, जो मालवीय जी से भेंट करने के लिए मेरे घर आये हुए थे, हम लोगों से दौड़ने में शर्त लगा रहे थे। पंडितजी भी दौड़ में शामिल हो गए और दौड़ हुई। गोपीनाथ

सबसे आगे रहे। मेरे भाई जो पंडितजी से कई वर्ष छोटे थे, उनके पीछे रह गए। मालवीयजी को इस दौड़ से कुछ भी कष्ट नहीं हुआ।

—के० चन्द्रशेखरन, एम० ए०, बी० एल०

अपूर्व उदारता

१८९७ में कांग्रेस के अमरावती-अधिवेशन में पहले-पहल मालवीयजी से मेरा परिचय हुआ था। उस समय वह रेशम की आधी धोती पहने और आधी ओढ़े हुए स्नान कर लौटे थे और भोजन बनाने के स्थान में, जहाँ चौका लगा हुआ था, अपने हाथों अपना भोजन बनाने के लिए जा रहे थे। तब से दूर से ही नहीं, बल्कि अत्यन्त पास से मैंने उन्हें देखा और उनके घनिष्ठ व्यक्तित्व के निकट-सम्पर्क में रहा हूँ।

१९०८ की सूरत-कांग्रेस में कांग्रेस के अन्दर जो फूट पड़ गई थी, उसको लेकर मैं लोकमान्य तिलक की ओर से प्रयाग में होने वाली प्रान्तीय कान्फ्रेंस में शामिल होने गया हुआ था। सच्ची बात यह है कि मेरा उद्देश्य मालवीय जी का विरोध करना था, क्योंकि वे उस समय सारी शक्ति के साथ हमारे नरम दली विरोधी नेता गोखलेजी का समर्थन कर रहे थे। किन्तु मालवीयजी ने हमारे साथ बराबर नितान्त सदाशयता का व्यवहार किया। मैं जनता हूँ कि, मालवीयजी के स्थान पर कोई और होता तो मुझे रास्ता दिखला देता।

वक्तृत्व-शक्ति के अतिरिक्त उनमें एक अजीब जादू-जैसा प्रभाव था, जो नेताओं में होने वाले मतभेदों तथा नाजुक परिस्थितियों के अवसर पर प्रत्यक्ष होता था। राष्ट्रीय उन्नति के क्षेत्र में काम करने वाले सभी कार्यकर्ताओं के प्रति वह उदार रहते थे, किन्तु कांग्रेस के प्रति उनका अनुराग उसके किसी एक नेता से कहीं बढ़कर है। है आश्चर्य की बात, पर जनता के हित के कार्यों में अपना कर्तव्य पूरा करने की आशा वह सरकार और जनता दोनों से ही रखते थे। और अपनी इस अविजित आशावादिता की भावना से प्रेरित होकर देश-सेवा के समस्त कार्यों के लिए बिना किसी की निन्दा-स्तुति की तनिक भी परवाह किये, अपने जीवन का सर्वस्व अर्पण कर देते थे।

—नरसिंह चिन्तामणि केलकर

ब्रह्मवादिनी भविष्यवाणी

उन दिनों परिस्थितिवश मैं विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करने के लिए उत्सुक था । ईश्वर-प्रदत्त थोड़ी-बहुत प्रतिभा के सिवा मेरे पास और कुछ न था। स्वाभाविकतया मैंने राजा सर रामपालसिंह से कुछ आर्थिक सहायता दिलाने के लिए मालवीयजी को लिखा। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि मैंने और भी कितने ही संभ्रान्त नेताओं को, जिनसे प्रयाग वाले कांग्रेस-अधिवेशन के समय मेरा परिचय हुआ था, इसी प्रकार के पत्र लिखे। बहुत पहले ही मैं अनुभव कर चुका हूँ कि उनसे अपने पत्र के उत्तर की आशा करना मेरी मूर्खता थी ; किन्तु मुझे इस बात का बड़ा सुख और संतोष है, मुझे अपने पत्रों का जो एक ही उत्तर मिला था, वह था मालवीयजी का । यद्यपि राजासाहब ने मेरी सहायता करने में असमर्थता प्रकट की थी, किन्तु मालवीयजी का पत्र अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण और सच्ची मित्रता के भावों से परिपूर्ण था और जो आज भी मेरे पास एक पवित्र थाती के रूप में सुरक्षित है। अपने इस पत्र में उन्होंने अपना यह विश्वास प्रकट किया था कि विलायत जाकर वकालत पास करने के प्रयत्न में मुझे सफलता भले ही न मिले किन्तु, जैसा कुछ वे मुझे जान पाये हैं, उसके बल पर वह कह सकते हैं कि मैं जीवन में बहुत आगे जाऊँगा और उन्नति करूँगा । उनकी यह ब्रह्मवादिनी भविष्यवाणी कम से कम मेरे सम्बन्ध में, मेरे दृष्टिकोण से तो बिल्कुल सही उतरी है ।

अद्वितीय वक्ता, अनुपम तार्किक

सन् १८८८ में प्रयाग में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था, वह देश में उठने वाली राष्ट्रीयता की महान् प्रगति के प्रतीक की दृष्टि से सर्वथा बेजोड़ और अनमोल था। उत्तर-पश्चिम तथा अवध प्रान्त के गवर्नर सर आकलैण्ड तथा सर सैयद अहमद खाँ के विरोध के कारण उसका महत्त्व और भी बढ़ गया था । प्रयाग-हाईकोर्ट के सर्वमान्य नेता पंडित अयोध्यानाथ स्वागत-

कारिणी समिति के अध्यक्ष थे और सर जार्ज यूल कांग्रेस-सभापति। दोनों के ही भाषण महान् थे। जितने दिनों तक कांग्रेस का यह अधिवेशन होता रहा, मैं अपनी कुर्सी से चिपका हुआ राष्ट्रीय नेताओं के भाषण ध्यानपूर्वक सुनता रहा। जीवन में पहली बार देश के उत्कृष्टतम वक्ताओं, जैसे कलकत्ते के बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और कालीचरण बैनर्जी, मद्रास के एलैंड नार्टन, बम्बई के फीरोजशाह मेहता और काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग के भाषण मैंने सुने। ये सभी भाषण एक से एक प्रभावशाली और अद्भुत थे। यद्यपि मैंने उन सबको पसन्द किया, तथापि पंडित मालवीयजी के वास्तविक महान् भाषण ने मेरे मन पर जो प्रभाव छोड़ा था, वह आज भी अमिट है। उपरिलिखित महान् वक्ताओं के बिल्कुल विपरीत पंडित मालवीयजी के भाषण में अनमोल वाक्-शक्ति के साथ-साथ प्रभावकारी माधुर्य और गम्भीरता का अनुपम सम्मिश्रण था। सार्वजनिक वक्ता के रूप में मालवीयजी का यह गुण-विशेष दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया है और अपने श्रोताओं के हृदयों को अपने तर्कों तथा भाषण-पवित्रता तथा जोशीलेपन से उभार कर उनके मत को विश्वास में परिवर्तित कर देने की कला में आज तो वे सारे देश द्वारा बेजोड़ मान ही लिये गए हैं। उनके जैसा अद्वितीय वक्ता तथा बहस करने की कला में पटु दूसरा देश में नहीं था।

सन् १९१९ में इम्पीरियल कौंसिल में पंजाब-हत्याकाण्ड पर जो बहस हुई थी उसमें एक ऊँचे सैनिक अधिकारी तथा मुख्य सचिव सर थाम्पसन, जो बाद में दिल्ली के कमिश्नर हो गए थे, पंजाब-सरकार का प्रतिनिधित्व करने के लिए कौंसिल के सदस्य मनोनीत किये गए थे। सरकारी क्षेत्रों में सर जेम्स थाम्पसन को 'ज्वालामुखी तीव्रता' का महान् वक्ता माना जाता था और पंडित मालवीयजी पर वह वैधानिक सीमा के अन्दर रहते हुए कड़े से कड़े शब्दों में हमला करते थे। एक बार उन्होंने मिल्टन के 'पैराडाइज़ लास्ट' नामक महाकाव्य से एक उदाहरण देकर यह समझा था कि इस बार उन्होंने मालवीयजी पर बाज़ी मार ली; किन्तु, मालवीयजी ने अपने उत्तर में न केवल मि० थाम्पसन की बातों का तुर्की-बतुर्की अकाट्य उत्तर ही दिया, वरन् मिल्टन के उसी 'पैराडाइज लास्ट' नामक महाकाव्य से ही, ठीक उनके विपरीत उदाहरण देकर मि० थाम्पसन को बिल्कुल स्तब्ध कर दिया। पंजाब-हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में दिये गए मालवीयजी के भाषण वास्तव में बहुत ही उच्च कोटि की विवेचना-शक्ति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

—**सच्चिदानन्द सिन्हा**

जीवनदाता

सन् १९३५ की कलकत्ता नगरी की कहानी है जहाँ ४९ वर्ष पूर्व पहले-पहल मालवीयजी ने कांग्रेस में भाषण किया था। राजस्थानी नवयुवक पं० रामचन्द्र शर्मा 'वीर' मन्दिर में होने वाले मूक पशुओं के वध को रोकने के उद्देश्य से मन्दिर के समक्ष निराहार अनशन कर रहे थे। तीस दिन से ऊपर हो चुका था और शर्मा जी की तबियत गिरती जा रही थी। मालवीयजी को तार द्वारा सूचना मिली और वह चल पड़े इस नवयुवक वीर की जान बचाने के लिए। जिस दिन मालवीय जी वीर के पास पहुँचे, उस दिन उनके अनशन का पैंतीसवाँ दिन था। मालवीय जी ने वीरजी को मृत्यु-शैया पर अचेतन दशा में पाया। कुछ मिनटों की ही देर थी। मालवीयजी वहीं ज़मीन पर, अन्तिम श्वासें गिनते हुए नवयुवक वीर की बग़ल में जाकर बैठ गए। एकाग्र मन से दुर्गा-सप्तशती का उन्होंने पाठ करना शुरू किया और इस नवयुवक ब्राह्मण को जीवन देने की प्रार्थना भगवती से की। पाठ समाप्त हुआ। मालवीयजी ने गंगा-जल लेकर नवयुवक पर छिड़क दिया। निद्रा में सोया हुआ मनुष्य जैसे जाग पड़ता है, वैसे ही वीरजी ने आँखें खोल दीं। जाते हुए प्राण रुक गए। सारा कलकत्ता इस समाचार को सुनकर चकित और स्तब्ध रह गया। कवि रवीन्द्रनाथ टैगौर ने यह समाचार सुना, तो वे भी मालवीयजी की तपस्या से बहुत प्रभावित हुए। मालवीयजी ने कहा, "ईश्वर अपने भक्तों को कभी नहीं छोड़ता।"

—वी० ए० सुन्दरम्

अत्यन्त भावुक, पर दृढ़

बात सूरत-कांग्रेस की है : सूरत-कांग्रेस की स्वागत-समिति के अध्यक्ष का नाम था श्री त्रिभुवनदास एन० मालवीय। विरोधी दल वाले लोकमान्य तिलक को बोलने की अनुमति न देने के कारण उनसे सर्वाधिक नाराज़ थे और जब झगड़ा हुआ और भगदड़ मची तो चारों ओर से आवाजें आने लगीं—"मालवीय कहाँ हैं ?" "पकड़ो मालवीय को" इत्यादि। इस मारपीट और भगदड़ में मुझे चिन्ता हुई कि 'मालवीय' नाम के धोखे में कहीं कोई बाबूजी (मालवीयजी) पर वार न कर दे। भाग-दौड़ में किसी का कुछ पता नहीं लग रहा था। वे घबराये हुए इधर-उधर उन को ढूँढ़ रहे थे। हमें क्या ख़बर थी कि वे अभी पंडाल के भीतर ही रुके हुए हैं। जब ढूँढ़ते हुए लोग पंडाल के अन्दर आये तो देखा वे मंच पर अपने स्थान के पास वाले पंडाल के एक खम्भे को पकड़े खड़े हुए हैं और उनकी आँखों से आँसुओं की अजस्र झड़ी लगी हुई है। इस तमाम हुल्लड़बाजी में वही एक व्यक्ति थे जो शोक से अत्यन्त सन्तप्त होते हुए भी अपने स्थान पर अन्त तक अडिग और अविचल खड़े रहे।

—रमाकान्त मालवीय

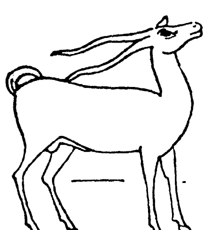

मसीहा मालवीयजी

मालवीयजी पूना गये थे। वहीं के एक अस्पताल में एक असाध्य रोगग्रस्त ग़रीब बालक अत्यन्त कष्ट में पड़ा हुआ था। मालवीयजी के पूना-आगमन का समाचार सुनकर उसके मन में भी उनके दर्शनों की तीव्र अभिलाषा हुई। उसने डाक्टरों से कहा और डाक्टरों ने मालवीयजी को सूचना दी। मालवीयजी ने तुरन्त स्वीकार कर लिया और लड़के को देखने के लिए अस्पताल गये। यह रोग तो असाध्य था ही, पर लड़के को कष्ट अधिक था। मालवीयजी ने उसे सान्त्वना दी और उससे गजेन्द्र-मोक्ष का पाठ करते रहने को कहा। लड़के को मन-माँगी मुराद मिल गई और उसने गजेन्द्र-मोक्ष का पाठ अपने जीवन के अन्त तक किया। उसकी मृत्यु के बाद अस्पताल के डाक्टर ने मालवीयजी को लिखा कि बालक की मृत्यु तो निश्चित थी ही, पर आपके दर्शनों के बाद और गजेन्द्र-मोक्ष का पाठ करने से उसकी मनोदशा बड़ी शान्त और स्वस्थ हो गई थी। जैसी व्यथा और तड़फड़ाहट आपके आने से पहले उस बालक में रहती थी, वह तो फिर कभी देखी ही नहीं गई।

फिरोजपुर-कांग्रेस के समय मालवीयजी अत्यन्त अस्वस्थ थे: किसी को भी आशा न थी कि वह इतनी दूर कांग्रेस में जा सकेंगे। पर वह पहुँच ही गए। उन्हें देखते ही सेठ यमुनालालजी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह कह ही बैठे—"तो पंडितजी, आप आ ही गए? आपकी तबियत ठीक नहीं, ऐसी दशा में इतनी दूर की यात्रा करना क्या ठीक था?" गांधीजी बोले—"अरे, पंडितजी रुकने वाले नहीं। पंडितजी तो अपने अन्तिम समय तक ऐसे ही घूमते-घामते और काम करते ही रहेंगे। एक दिन हम लोग सुनेंगे कि देश के किसी कोने में यात्रा करते हुए हम लोगों को छोड़कर पंडितजी चले गए।" मालवीयजी ने कहा—"नहीं-नहीं, मैं ऐसे नहीं मरूँगा: मैं तो काशी या प्रयाग में आराम से शरीर त्याग करूँगा, बिना किसी को किसी प्रकार का कष्ट

देते हुए । आप लोगों को कष्ट नहीं दूँगा दौड़-भाग का।" और ऐसा ही हुआ। मालवीयजी ने बिना किसी को कष्ट दिये आराम से अपने स्थान पर काशीजी में ही प्राण-त्याग किया। न महात्मा जी को दौड़ना पड़ा, न यमुनालालजी या अन्य किसी कांग्रेसी नेता को।

—त्रिलोचन पन्त

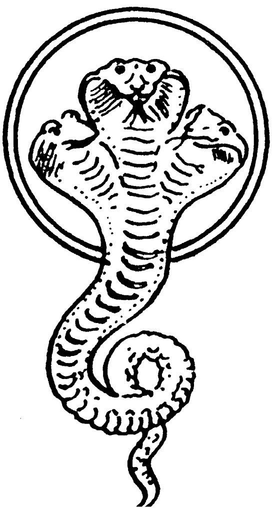

सदसद्-विवेकी मालवोयजी

एक बार मैं मालवीयजी के पास मिलने गया। वह व्यस्त थे और पत्र लिखने-लिखाने में दत्तचित्त थे। मेरे बैठ जाने पर उन्होंने एक पत्र हाथ में देते हुए हँसकर मुझसे पूछा—"कहो सर (Sir) बनोगे ?" पत्र भारत सरकार का था। मैं चुप रहा, कुछ बोला नहीं। उन्होंने फिर कहा—"बोलो बोलो ! कहते क्यों नहीं, सर बनोगे ?" पत्र पढ़कर मैंने धीरे से कहा : "महाराज ! मुझे तो नाम के आगे पंडित लगाना ही अधिक अच्छा लगता है।" मालवीयजी प्रसन्न हो गए। बोले—"बिल्कुल ठीक ! इसीलिए तो तुमसे पूछा था।" और सरकारी पत्र के उत्तर में उन्होंने सर का टाइटिल लेने से "सधन्यवाद इन्कार" लिख दिया।

ऐसे ही एक बार कलकत्ता-विश्वविद्यालय द्वारा सर आशुतोष मुकर्जी ने डाक्टर की पदवी देकर उनका सम्मान करना चाहा था। उसे लेने से भी मालवीयजी ने इन्कार कर दिया था।

—जीवनशंकर याज्ञिक

निःस्वार्थ याचक, महान् दानी

पूज्यचरण मालवीयजी के ज्येष्ठ पुत्र का स्वर्गवास हो चुका था। उनके बँगले पर कुछ ऋण था, इस कारण मालवीयजी के पौत्र बहुत चिन्तित रहा करते थे। पौत्र के दुःख से महाराज भी दुःखी थे। कुल पन्द्रह-बीस हज़ार रुपयों की बात थी। मुझे मालूम हुआ तो मैंने इस बात की चर्चा मालवीयजी के भक्त एक महाराजा साहब से की। महाराजा साहब मालवीयजी से मिलने काशी आये और जब मिले तो पचास हज़ार रुपयों का एक चैक उन्हें देते हुए बोले—"महाराज, ये रुपये आपके व्यक्तिगत कार्यों के लिए हैं। इनका उपयोग व्यक्तिगत कार्यों के लिए जैसे चाहें, आप करें!" मालवीयजी की आँखों में आँसू छलछला आये और उन्होंने महाराजा साहब को धन्यवाद देते हुए उस चैक को व्यक्तिगत कार्यों के लिए लेना अस्वीकार कर दिया। महाराजा ने बहुत आग्रह किया, पर मालवीयजी माने नहीं। अन्त में महाराजा साहब ने कहा—"महाराज! आप तो विद्वान् शास्त्रज्ञ हैं। दिया हुआ दान कहीं वापस लिया जाता है? मैं यह चैक अब वापस कैसे ले सकता हूँ? मालवीयजी ने मुझे बुलाया और चैक मुझे देते हुए बोले—"इसे सनातनधर्म महासभा के खाते में जमा करा दो। आधा सभा के लिए है और आधा धर्म-ग्रन्थों का संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित करने के लिए।"

—गोस्वामी गणेशदत्त

निःस्वार्थ सेवक

१९१८ में पड़ने वाले प्रयाग के कुम्भ की कथा है : एक दिन साढ़े आठ बजे रात्रि को भयंकर अग्नि-काण्ड हुआ, जिसका प्रकाश तीन-चार कोस दूर के देहातों तक फैला था। उस समय पूज्य मालवीयजी भोजन करने जा रहे थे। अग्नि का प्रकोप देखते ही परसी हुई थाली को छोड़कर वे उस जाड़े की रात्रि में, वैसे ही एक रेशमी वस्त्र की धोती पहने हुए नंगे पाँव बाँस में लगी हुई लोहे की हँसिया हाथ में लिये दौड़े हुए घटना-स्थल पर पहुँच गए और आग बुझाने में जुट गए। उन्हें इस प्रकार कार्य करते हुए देखकर सेवा-समिति के सैकड़ों स्वयंसेवक तथा जनता के व्यक्ति भी आये और आग बुझाने लगे। फलस्वरूप वह भीषण आग जल्दी ही क़ाबू में आ गई और सारा वातावरण 'मालवीय जी की जय!' 'सेवा-समिति की जय!' के नाद से गूँज उठा।

—वसन्तलाल शर्मा

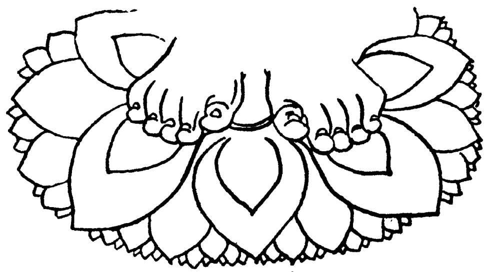

प्रजातान्त्रिक मालवीयजी

मैं मालवीयजी के दर्शनार्थ गया हुआ था। वे लेटे हुए थे। बातों-बातों में उन्होंने पूछा, "क्या सरयूपारी ब्राह्मण मांस खाते हैं ?" मैंने कहा, "जी हाँ, और शास्त्रों की आज्ञानुसार !" वह चौंक कर उठ बैठे और पूछा—"शास्त्रों की आज्ञानुसार ! यह कैसे ?" मैंने उन्हें शास्त्रोक्त वचन उद्‌धृत कर-करके सुनाये। वह सुनते रहे ध्यानपूर्वक, और अन्त में मेरी प्रशंसा करते हुए उन्होंने मुझसे साप्ताहिक पत्र 'सनातन धर्म' में इस विषय पर एक लेख लिखने को कहा। मैंने उनकी आज्ञा का पालन किया और एक लेख लिखकर सम्पादक जी को भेज दिया। थोड़े दिनों बाद वही लेख 'सनातन धर्म' में प्रकाशित हुआ। लोगों के आश्चर्य की सीमा न रही। मालवीयजी के पत्र में मांस-भक्षण के पक्ष में लेख !

बाद में हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभागाध्यक्ष गुरुवत् पं० काली-प्रसाद मिश्र ने उक्त लेख छपने की जो कथा सुनायी, उसे सुनकर तो मालवीय जी की महानता के सम्मुख मस्तक अपने-आप नत हो गया। मिश्रजी ने कहा कि जब आपका लेख पहुँचा तो मैंने उसके छपने पर आपत्ति की। मामला मालवीयजी के सम्मुख पेश हुआ। उन्होंने कहा कि, "लेख शास्त्रोक्त आधार पर एक विद्वान् द्वारा लिखा गया है। यदि किसी को इसकी प्रामाणिकता में सन्देह हो या इसके विपरीत मत का प्रतिपादन करना हो तो यह आवश्यक है कि यह लेख छपे। यदि उद्धरण शास्त्रोक्त हैं तो किसी को फिर आपत्ति ही क्या हो सकती है ! मत-स्वातंत्र्य का अधिकार तो सभी को है। नहीं-नहीं, पहले यह लेख अवश्य छपना चाहिए, जिसमें इस विषय पर खूब खुलकर विचार हो।" और उनकी आज्ञा से ही मेरा वह लेख 'सनातन धर्म' में प्रकाशित हुआ था। दूसरों के मत के प्रति अत्यधिक उदारता का तथा विचारों की स्वतन्त्रता का यह सर्वश्रेष्ठ नमूना है।

तुलसी-दल के सिवा मेरा कोई दल नहीं

एक बार माघ-मेले के अवसर पर मालवीयजी महाराज सनातनधर्म महासभा के सम्मेलन में भाषण दे रहे थे। प्रतिपक्षी दक़ियानूसी दल के कुछ लोग वहाँ आये और सम्मेलन भंग करने के उद्देश्य से शोर-गुल मचाने लगे। उनके एक प्रवक्ता को मालवीयजी ने बोलने के लिए आमन्त्रित किया। उक्त प्रवक्ता ने मालवीयजी पर दलबन्दी करने का आरोप लगाया। अपने उत्तर में मालवीयजी ने कहा—"मैंने अपने समस्त जीवन में दल तो केवल एक ही जाना है। वह दल ही मेरा जीवन-प्राण है और जीवन रहते उस दल को मैं कभी छोड़ भी नहीं सकता। इस दल के अतिरिक्त किसी दूसरे दल से मुझे कोई मतलब नहीं।"—यह कहकर उन्होंने अपनी जेब से तुलसी-दल निकाला और उसे जनता को दिखलाते हुए कहा—"और वह दल है यह तुलसी-दल!" हर्ष-ध्वनि और 'मालवीयजी की जय!' ध्वनि से सारा पण्डाल गूँज उठा और प्रतिपक्षी अपना-सा मुँह लेकर वापस लौट गए।

—भूपेन्द्रपति त्रिपाठी

अपूर्ण वायदा

महात्माजी के प्रिय और आदरणीय मित्र पं० मदनमोहन मालवीय प्राय: उत्तर-काशी के पवित्र तथा हिमालय के सौन्दर्य-स्थल और वहाँ के महात्माओं के सम्बन्ध में बहुत ही आकर्षक वर्णन उन्हें (गांधीजी) सुनाया करते थे। उन्होंने गांधीजी से वायदा किया था कि एक दिन वे उन्हें वहाँ अपने साथ लिवा ले जायेंगे। पर वायदा पूरा करने के पहले ही मालवीयजी का स्वर्गवास हो गया। किन्तु यह विचार गांधीजी के मन में बराबर उठता रहा और जब कि अन्तिम दिनों में उन्हें अपने चारों ओर का वातावरण गीला-गीला-सा प्रतीत होने लगा था, वे (गांधीजी) आतुरतापूर्वक इस मनमोहक किन्तु अपूर्ण सम्भावना की चर्चा बार-बार चलाते रहते थे।

—प्यारेलाल नायर

बेजोड़ शालीनता

बात सन् १९२२-२३ की है। उन दिनों मैं हिन्दू-स्कूल में पढ़ता था और पूज्य बाबूजी (मालवीयजी) के साथ ही उनके 'उपकुलपति-निवास भवन' में रहता था। गोविन्द चाचा भी वहीं रहते थे। हमारी तीनों की खाटें ऊपर छत पर एक के बाद एक बिछायी जाती थीं। प्रायः बाबूजी अधिक देर करके सोने आते थे और मुझे पता न लगता था कि वह कब आकर सोये। मैं सो चुका होता था।

एक दिन बाबूजी आये और गोविन्द चाचा उनसे ज़ोर-ज़ोर बातें कर रहे थे। मेरी नींद खुल गई, पर मैं ऐसे पड़ा रहा जैसे सो रहा हूँ। गोविन्द चाचा कह रहे थे, "इतना समय व्यर्थ में बरबाद किया उन संगीतज्ञ महाशय ने। आप को उन्हें दूसरे दिन बुलाना चाहिए था। इतनी रात कर दी आपने!"

बाबूजी ने कहा, "क्या करता! बेचारा रोज़ आता था और देर हो जाने के कारण रोज़ ही उसे लौटना पड़ता था। हमें समय नहीं मिलता, तो उस बेचारे को भी तो काम रहता होगा, ऐसे रोज़-रोज़ लौटना भी तो ठीक नहीं। मुझे सोने में थोड़ी देर तो अवश्य हुई, पर वह कितना प्रसन्न हुआ होगा! और संगीत सुनाया उसने बेलवे में।"

गोविन्द चाचा ने उत्तर में कहा—"बड़ा अच्छा संगीत सुनाया उसने! उनसे अच्छा तो 'मुनुआ' (घर में मुझे इसी नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है) गा लेता है।"

बाबूजी ने कहा, "मुनुआ अभी बच्चा है। अच्छा, वह गा भी लेता है! मुझे नहीं मालूम था। पर संगीतज्ञ पंडितजी से उसकी तुलना तुम्हें नहीं करनी चाहिए।"

गोविन्द चाचा ने कहा, "मैं हँसी नहीं उड़ा रहा था। आप कहिये तो अभी जगाकर आपको सुनवा दूँ।"

बाबूजी ने कहा, "नहीं-नहीं। हम लोग तो जागे ही, अब उसे भी जगायें। सोता है सोने दो, फिर किसी दिन सुन लेंगे।"

अपूर्व तपोबली

पूज्य मालवीयजी में तपोबल भी बहुत था, ऐसी बहुत से लोगों की धारणा है। कुछ बातें तो मैं परिवार में सुनता रहा हूँ और जानता भी हूँ। कहा जाता है कि परिवार के किसी प्राणी पर कोई महान् संकट आ पड़ता था तो इसकी सूचना उन्हें जहाँ कहीं भी वे होते, आत्म-बल से मिल जाती थी।

बात १९१६-१७ की है। उन दिनों मैं ७-८ साल का था। सन्निपात-ज्वर ने मुझे ग्रसा और मेरी हालत क्रमशः बिगड़ती गई। अपने पिता की एकमात्र सन्तान तथा छः भाइयों के बीच में एक पौत्र उस समय मैं ही था। हालत बिगड़ती देख सारा परिवार अत्यन्त चिन्तित और दुःखी हो गया। एक दिन तमाम डाक्टरों ने जवाब दे दिया और सारे परिवार में शोक की लहर दौड़ गई। पूज्य पिता पंडित कृष्णकान्तजी, जो अपने संयम के लिए प्रसिद्ध थे, वह भी धैर्य खो बैठे। मालवीयजी काशी में थे। उन्हें कोई सूचना नहीं दी गई थी। कहा जाता है, उस दिन रात्रि में एकाएक उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके परिवार पर महान् विपत्ति आयी हुई है और किसी की मृत्यु के लक्षण प्रतीत हो रहे हैं। उन्होंने फौरन मोटर मँगायी और प्रयाग के लिए रवाना हो गए।

इधर कुल की प्रथा के अनुसार अन्तिम काल समझ कर मुझे पृथ्वी पर सुला दिया गया था और चारों ओर लोग रो रहे थे।

एकाएक मालवीयजी आ पहुँचे। वह सीधे मुझ तक पहुँच कर बोले, "तुम लोग उसे ज़मीन पर क्यों सुलाये हो? क्यों रो-धो रहे हो? मैंने कौन-सा पाप किया है, कौन-सा ऐसा अधर्म मुझसे बन पड़ा है, जो मेरे रहते हुए, यह छोटा बच्चा इस कुल का दीपक बुझ जाय? ऐसा कभी नहीं हो सकता। तुम सब

रोना-धोना बन्द कर बच्चे को खाट पर सुलाओ और भगवान् का नाम लो, प्रार्थना करो ! मैं अभी वैद्य को लेकर आता हूँ।" उनकी आज्ञा का पालन किया गया।

मेरे मुहल्ले के पास ही शहर के रईस लाला रामचरण अग्रवाल रहते थे। उन्हें वैद्यक का शौक़ था और अपने नाड़ी-ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। दवा मुफ्त बाँटते थे, पर अपने घर पर ही; किसी के यहाँ जाकर दवा न देने की शायद उनकी टेक थी। बहरहाल मालवीयजी घनघोर रात्रि में उनके यहाँ पहुँचे और दरवाज़ा खटखटाया। लालाजी नींद में सो चुके थे; पर जब उन्हें मालूम हुआ कि मालवीयजी आये हैं, तो उठकर नीचे आये। मालवीयजी ने समाचार सुनाकर उनसे कहा, "सारे डाक्टरों ने तो जवाब दे दिया है पर मेरा मन कहता है कि इस बच्चे को जीना है, शायद इसका यश आपके ही हाथों को बदा हो, सो आप जल्दी चलिये।" लालाजी हिचकिचाये, ना-हाँ की; पर अन्त में मालवीयजी के आग्रह को टाल नहीं सके। अपनी दवाइयों का छोटा बक्स लेकर आये, देखा, एक पुड़िया दवा दी। कहा जाता है कि मेरे ठंडे होते हुए शरीर में गर्मी आ गई और मैं आज भी उनके प्रताप से जीवित हूँ।

× × ×

यह घटना १९३४-३५ की है। पूज्य मालवीयजी की एक छोटी बहिन थीं —सुभद्राजी, जिन्हें हम लोग 'बिट्टी बुआ' कहा करते थे।

बचपन से ही उन्हें वैधव्य-दुःख भोगना पड़ा था। वह सदैव हम लोगों के परिवार में ही रहीं, उनका जीवन अत्यन्त धार्मिक था, सुबह गंगा-स्नान को जाना, आकर ठाकुरजी की देखभाल, पूजा-पाठ और गृहस्थी का प्रबन्ध; यही उनका दैनिक जीवन था। पूज्य मालवीयजी का अपनी इन छोटी बहिन पर अत्यधिक स्नेह था। कहा करते थे, कि "जब तक मेरी यह साध्वी बहिन जीवित है, मैं अपने जीवन के सम्बन्ध में निश्चिन्त हूँ। मुझे काल भी नहीं छू सकता।"

जैसा बिट्टी बुआ का धार्मिक जीवन था, वैसा ही उनका अन्त भी हुआ।

अपने ठाकुरजी का पूजा-शृंगार कर, उन्हें भोग लगा और पाकर, वह चौकी पर जाकर लेटी ही थीं कि उन्हें पेट में कुछ दर्द मालूम हुआ। वह उठीं, शौच गयीं और नियमानुसार स्नान करके, ठाकुरजी का चरणामृत, गंगा का जल तथा तुलसी पानकर वह चौकी पर जाकर फिर जो लेटीं, तो नहीं उठीं। कब और कैसे क्षणों में उनके प्राण-पखेरू उड़ गए, किसी को नहीं मालूम होने पाया। मालवीयजी के छोटे भाई पंडित श्यामसुन्दरजी की स्त्री, जो उन्हें शौच जाते देखकर, कारण जानने के लिए नीचे आयीं, तो उन्होंने उन्हें मृत दशा में पाया। परिवार वाले इकट्ठे हो ही रहे थे, कि देखा, मालवीयजी के ज्येष्ठ पुत्र पं० रमाकान्तजी, जो उन दिनों बाबूजी के साथ ही काशी में थे, आ रहे हैं। सबसे अधिक आश्चर्य तो तब हुआ जब उन्होंने मोटर से उतरते ही पूछा, बुआ की तबियत कैसी है? उन्हें जब उनकी मृत्यु की सूचना दी गई तो वह स्तब्ध रह गए। उन्होंने कहा, "आज सुबह से ही बाबू (मालवीयजी) कुछ अन्यमनस्क से थे। बीमार कई दिनों से हैं। आज बिल्कुल ही भोजन नहीं किया। ११ बजे के क़रीब उन्होंने बुलाकर ये रुपये मुझे दिये और कहा कि "मोटर से तुम तुरन्त प्रयाग जाओ। आज हम भाई-बहिनों में कोई न कोई खंडित होने वाला है। प्रयाग जाकर मेरी बहिन का समाचार लाओ और ये रुपये उन्हें दे देना।" हम सब यह सुनकर चकित और स्तब्ध रह गए।

जनता के सेवक

उन दिनों मैं बनारस हिन्दू-स्कूल में पढ़ता था और वहीं पूज्य बाबूजी (मालवीयजी) के साथ वाइसचांसलर्स लॉज में रहता था। पूज्य मालवीयजी के सबसे छोटे पुत्र मेरे चाचा पं० गोविन्द मालवीयजी भी साथ ही रहते थे। मालवीयजी की तबीयत काफी खराब थी और डाक्टरों ने उन्हें किसी से मिलने-जुलने तथा बातें करने की सख्त मनाही कर दी थी। यों तो वह किसी की मानने वाले न थे, इसलिए गोविन्द चाचा ने मकान के सबसे पिछले ऊपरी हिस्से के एक कमरे में उनके रहने का प्रबन्ध किया। एक दिन कुछ मद्रासी भाई मालवीय जी के दर्शनों की अभिलाषा से बँगले पर आये। गोविन्द चाचा उन्हें मिलने से रोक रहे थे और वे लोग कहते थे कि बिना दर्शन किये हम जायेंगे नहीं। दर्शनार्थी ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर बातें करने लगे। आवाज़ बाबूजी के कानों तक पहुँच गई। उन्होंने मुझे बुलाया और पूछा कि मामला क्या है?

मैंने बतला दिया। उन्होंने कहा, बुलाओ गोविन्द को। मैं बुला लाया। आते ही गोविन्द चाचा पर बाबूजी नाराज़ होने लगे। बोले—"मुझसे मिलने आने वालों को रोकने का तुम्हें क्या अधिकार है? यह बँगला जनता का है, मेरी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं। मैं जनता की सेवा करता हूँ, इसलिए यहाँ रहता हूँ। जनता को अधिकार है कि वह जब चाहे अपने सेवक से सेवा ले सकती है। उन लोगों को बुला लाओ!" गोविन्द चाचा भी नाराज़ हो गए। कुछ तर्क-वितर्क करने शुरू किये। बाबूजी का धैर्य छूट गया। उन्होंने बिगड़ कर कहा, "गोविन्द, मैं तुमसे तर्क नहीं सुनना चाहता। यदि तुम्हें इन बातों से कष्ट होता है तो अच्छा हो, तुम अपने रहने का प्रबन्ध किसी दूसरी जगह कर लो। इस मकान पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। यहाँ रखकर तुम्हें मैं अपने और जनता के बीच में आने का अधिकार कदापि नहीं दे सकता। अच्छा, तुम जाओ और उन लोगों को यहाँ बुला लाओ! बेचारे इतनी दूर से आते हैं, बार-बार आने का पैसा बेचारे ग़रीबों के पास नहीं। और गोविन्द, वे चाहते क्या हैं? कुछ नहीं, केवल अपने सेवक का दर्शन। और तुम उन्हें रोक रहे हो। छिः-छिः, कैसी छोटी बात है!" गोविन्द चाचा मुँह लटकाये चुप रह गए। मैं गया और उन लोगों को बुला कर उन्हें बाबूजी के दर्शन कराये।

निकृष्ट चाकरी भीख निदान

बचपन की एक घटना मन में बिजली की तरह कौंध गई। १६२२-२३ में मैं हिन्दू-स्कूल, काशी में पढ़ता था और उन्हीं के साथ रहता था। उनका भोजन अलग बनता था, हम लोगों का अलग। मैं उन दिनों काफी छोटा था। सिद्धान्तों की बारीकी कम समझ में आती थी। मैं समझता कि चूँकि बाबूजी के भोजन में मसाला इत्यादि नहीं पड़ता, बिलकुल सादा बनता है, इसलिए ही उनका भोजन सबसे अलग बनाया जाता है। एक बार, जब मेरे इम्तहान हो रहे थे, इत्तिफाक से हम लोगों का भोजन तैयार नहीं था, और मुझे देर हो रही थी। बाबूजी—मालवीयजी—का भोजन तैयार था। रसोईदार ने कहा, बाबू का भोजन तैयार है। आप लोगों के भोजन में देर है। आज बाबू का भोजन करके ही चले जाइये।

बाबूजी सुन रहे थे। उन्होंने मुझे बुलाया और एक रुपया मेरे हाथ में

रखते हुए बोले, "तुम्हारे स्कूल में फल और मिठाई वाले तो होंगे ही; यह रुपया लेते जाओ, आज वहीं फल और मिठाई लेकर खा लेना। हमारा भोजन करने की आवश्यकता नहीं।"

रुपया लेकर मैं चला आया और स्कूल चला गया। बात मेरी समझ में कुछ आयी नहीं। आखिर क्या बात है ! बाबूजी ने तैयार होने पर भी अपना भोजन मुझे क्यों नहीं करने दिया। एक दिन बिना मसाले के ही भोजन कर लेता। मुझ से कोई अपराध बन पड़ा क्या ! यह प्रश्न मुझे घंटों बेचैन किये रहा। दो बजे के क़रीब स्कूल से घर वापस लौटा। रसोईदार बैजनाथ ने मेरी आहट पाते ही आवाज़ दी और कहा, "बच्चाभैया, जल्दी आकर भोजन करो। देर हो रही है। बाबूजी ने अभी तक भोजन नहीं किया, आपके आसरे बैठे हुए हैं।"

मैं चकित रह गया। कुछ समझ में नहीं आया। इतने में ही बाबूजी ने आवाज़ दी। मैं उनके कमरे में पहुँचा। उनकी वह आँसुओं से झलकती हुई आँखें, वह तेजस्वी मुद्रा जैसे इस समय भी मेरी आँखों के सामने है। वे बोले, "तुमने मिठाई और फल खा लिये न ?" मेरे "हाँ" करने पर कहने लगे, "देखो, जानते हो मैंने तुम्हें भोजन क्यों नहीं करने दिया था ? तुम्हें यह मालूम है न कि मेरे भोजन की सामग्री शिवप्रसाद (देशभक्त स्वर्गीय बा० शिवप्रसादजी गुप्त) के यहाँ से आती है। वह सीधा मेरे लिए दान में आता है। बाबू (हमारे परबाबा अर्थात् मालवीयजी के पिता) कहा करते थे कि वही ब्राह्मण दान ले, जिसमें दान को पचाने की शक्ति हो। इसीलिए हमारे यहाँ दान नहीं लिया जाता। दान एक प्रकार की भीख ही तो है ! भिक्षा का अन्न खाना कोई अच्छी बात नहीं। ऐसा अन्न खाने से मनुष्य में आलस्य आता है। मैं थोड़ी-बहुत देश और समाज की जो सेवा कर देता हूँ, उसके बदले यह दान स्वीकार कर लेता हूँ। मजबूरी, क्या करूँ ! उस जन्म में न जाने कौन-सा पाप बन पड़ा था, जो इस जीवन में दूसरों का आश्रित बनना पड़ा। मैं नहीं चाहता कि मेरे परिवार में अन्य कोई व्यक्ति दूसरों का आश्रित होकर भिला पर जीवन-यापन करे। तुम्हारी आदत बिगड़ने न पावे, इसलिए सुबह तुम्हें भोजन से मना किया था। अच्छा, अब जाओ, जल्दी से भोजन कर लो !"

मैं रो पड़ा। बोला, "आपने अभी तक भोजन क्यों नहीं किया ?" वे बोले, "वाह, तुम्हें भोजन नहीं करने दिया, भूखा रक्खा और मैं भोजन कर लेता ! पहले बच्चे भोजन करते हैं, तब बड़े। जाओ, देर न करो, तुम को भूख लगी होगी।"

चोर भी भक्त

एक बार मालवीयजी रेल द्वारा कहीं जा रहे थे, लम्बा सफ़र था। उनके साथ साधारण कपड़े के बक्स और बिस्तरे के अतिरिक्त काग़ज़ों तथा फ़ाइलों से भरे तथा भोजन बनाने-खाने के बर्तनों इत्यादि के कई बक्स रहा करते थे। पहले दूसरे दर्जे में वे चलते ही थे। चोरों ने समझा, कोई रईस है। एक स्टेशन पर उनका अटैची-केस किसी ने चुरा लिया। उसमें ज़रूरी कागजात तथा कुछ रुपये इत्यादि थे। रेलवे पुलिस को रिपोर्ट कर दी गई। मालवीयजी का मामला था। पुलिस ने चोरी का पता लगाने का पूरा प्रयत्न किया, पर कोई पता न चला। कुछ दिनों बाद एकाएक मालवीयजी को एक पत्र मिला, जिसमें रेलवे पार्सल की एक रसीद थी और साथ के पत्र में उनसे प्रार्थना की गई थी कि वे स्टेशन में जाकर उक्त रेलवे रसीद द्वारा अपना अटैची-केस, जो चोरी गया था, मँगा लेने की कृपा करें। पत्र में लिखा था, "आपके अटैची को मैंने चुराया था। मुझे क्या मालूम था कि आप जैसे देशसेवक पूजनीय व्यक्ति का सामान मैं चुरा रहा हूँ। जब से मालूम हुआ है कि सामान आपका था, मैं लज्जा और पाप के बोझ से दबा जा रहा था; पर पुलिस की सरगर्मी के कारण आज तक इसे आपको वापस न कर सका। अब मैं आपको वापस कर रहा हूँ। आपको मेरे कारण जो कुछ कष्ट हुआ उसके लिए मैं आपसे बार-बार क्षमा प्रार्थी हूँ। कृपया मुझे क्षमा कर दें !" और मालवीयजी को उनका चोरी हुआ अटैची-केस ज्यों का त्यों वापस मिल गया। कुछ लोगों का कहना यह भी है कि चोरी सी० आई० डी० वालों ने ही करायी थी। चोर जो भी रहा हो, पर उसने यह तो अपने कर्म से साबित कर ही दिया कि चोरों के हृदय तक मालवीयजी स्पर्श करते थे।

'पाप' और प्रायश्चित्त

पूज्य मालवीयजी छोटे थे, शायद १२-१४ वर्ष के। गर्मियों का दिन था। ऊपर छत पर सोते थे। प्रातः उठने की आदत थी। एक दिन प्रातःकाल उठकर छत पर टहल रहे थे कि उनकी निगाह पड़ौसी की नीची छत पर बिलकुल नग्न होकर धोती बदलती हुई एक युवती पर पड़ गई। चुपचाप नीचे उतर आये। सारा क़िस्सा अपने माता-पिता से बतलाया। कहा, "दृष्टि-दोष तो मुझे लग ही गया, बतलाइये, इसका प्रायश्चित क्या है?" दोनों ने ही कहा, "इसमें तुम्हारा दोष तो कोई था नहीं, इसलिए तुम्हें तो कोई पाप लगा ही नहीं। भगवान् का नाम जप लो। बस, इतना काफी है।" मालवीयजी ने उत्तर दिया, "किन्तु प्रातःकाल उठकर छत पर टहलना, जब कि मुझे मालूम होना चाहिए था कि पड़ौसियों की छतें नीची हैं और उनके परिवार वाले भी मेरी तरह गर्मी के कारण अपनी-अपनी छतों पर सोते होंगे, तो मेरी भूल थी ही। पाप तो मुझ से बन ही पड़ा। भगवन्नाम का जप तो मैं करता ही हूँ, आज और अधिक करूँगा; किन्तु आज मैं भोजन भी न करूँगा, और व्रत रखूँगा। शाम को फलाहार-मात्र करूँगा।" माताजी पिताजी ने बहुत समझाया, पर मालवीयजी ने उस दिन व्रत किया ही और दूसरे दिन अपनी खाट नीचे उतरवा लाये और किसी को भी छत पर सोने से मना कर दिया। ऐसे भाव थे मालवीयजी के स्त्रियों के प्रति, अपने बचपन से। इसीलिए तो जब वे सभा में स्त्रियों को 'देवियाँ' कहकर सम्बोधित करते थे, तो वह शब्द उनके मुख से कितना सुन्दर, मधुर और सजीव होकर निकलता था!

गाँव-गाँव में महल बनें।

कहा जाता है कि एक बार महात्माजी प्रयाग आये और मालवीयजी के साथ ही ठहरे हुए थे। शाम को घूमने जाते समय मालवीयजी ने गांधीजी को भी साथ लिया और हिन्दू बोर्डिंग हाउस जा पहुँचे। मालवीयजी ने उन्हें बतलाया कि किस प्रकार देहातों से आने वाले प्रयाग-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को यहाँ रहने-सहने का कष्ट था और किस तरह उन्होंने उन ग़रीब विद्यार्थियों के लिए ही उक्त छात्रावास का निर्माण कराया था। बिजली इत्यादि नवीनतम उपकरणों से सुसज्जित हिन्दू बोर्डिंग हाउस के विशाल भवन को देखकर

गांधीजी ने मालवीयजी से कहा, "पर भाईसाहब, बिजली के पंखों से सुशोभित इन सुन्दर बने हुए कमरों में रहने के बाद तो वे ग़रीब विद्यार्थी गाँवों में जाकर अपने टूटे-फूटे कच्चे मकानों में रहना क्या कभी पसन्द करेंगे ? आप तो उनकी आदतें खराब कर रहे हैं !" मालवीयजी ने हँस कर कहा, "हाँ, एक अंश में आप ठीक बात कहते हैं; पर मैं तो जान-बूझ कर इन ग्रामीण विद्यार्थियों की आदतें बिगाड़ रहा हूँ। सारे गाँवों के लोगों को शहर में रख सकना असम्भव है। मैं तो चाहता हूँ कि इन भवनों में प्राप्त होने वाले सुखों के ये ग्रामीण भाई इतने अधिक आदी हो जायँ कि इनके बिना वे रह ही न सकें, और अपने-अपने ग्रामों में भी ऐसे ही सुन्दर भवन निर्माण करने के लिए मजबूर हो जायँ और वहाँ भी वे उन उपकरणों को प्राप्त करने का प्रबन्ध करें जो आज उन्हें केवल शहरों में ही प्राप्त हो रहे हैं।"

कोई बात नहीं

एक बार एक विदेशी सज्जन हिन्दू-विश्वविद्यालय देखने के लिए आये। वह मालवीयजी से जिस समय मिलने आये, उस समय विद्यालय बन्द हो चुका था। मालवीयजी ने विद्यालय के एक शिक्षक महोदय को बुलाकर उनसे विदेशी सज्जन को विश्वविद्यालय दिखाने को कहा। शिक्षक महोदय ने कहा, "महाराज, विद्यालय तो बन्द हो चुका है।" मालवीयजी ने कहा : "कोई बात नहीं; चौकीदार तो होगा। भवनों को खुलवा कर आपको दिखला लाइये।" शिक्षक महोदय ने उत्तर दिया कि "चौकीदार भी तो चले गए होंगे !" मालवीयजी ने प्रत्युत्तर में कहा, "कोई बात नहीं, तो आप इन्हें दरवाज़ों के शीशों से ही दिखला दीजिये।" शिक्षक महोदय निरुत्तर हो गए और विदेशी सज्जन को लेकर विद्यालय दिखलाने चले। बाहर आते ही विदेशी सज्जन ने शिक्षक महोदय से कहा, "महाशय, मैं समझ गया कि इस छोटे से दुबले-पतले व्यक्ति ने इतना बड़ा विश्वविद्यालय कैसे बना डाला। उनकी सारी सफलता का रहस्य उनके इस छोटे से वाक्य—कोई बात नहीं—में ही छुपा हुआ है।"

परनिन्दा अनुचित, न्यायी केवल ईश्वर

बात मद्रास में होने वाली कांग्रेस की है। उन दिनों कांग्रेस के प्रारम्भिक

दिन थे। मद्रास के एक बड़े नामी-गिरामी नेता किसी प्रस्ताव के अनुमोदन में बहुत अच्छा बोले थे। मालवीयजी जब उक्त प्रस्ताव का समर्थन करने खड़े हुए, तो उन्होंने अपने पूर्व वक्ता उन मद्रासी नेता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। 'लीडर' के सम्पादक श्री सी० वाई० चिन्तामणि उन दिनों नवयुवक थे और वह भी कांग्रेस-अधिवेशन में सम्मिलित थे। वह उक्त मद्रासी नेता को अच्छी तरह जानते थे और उनके व्यक्तिगत चरित्र की कुछ कमज़ोरियों के कारण उनसे बहुत नाराज़ थे। जब मालवीयजी जैसे सच्चरित्र व्यक्ति ने उस नेता की प्रशंसा करनी शुरू की, तो उन्हें दुःख हुआ और जैसे ही वे बोलकर बैठे, चिन्तामणिजी उनके पास जा पहुँचे और उनसे अपने मन की पीड़ा बतला कर कहा कि कम से कम आपको उनकी इतनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए थी। इससे जनता के भ्रम में पड़ जाने की सम्भावना है। मालवीयजी ने उत्तर दिया—"मेरे नौजवान मित्र, तुम भूल पर हो। तुम मेरी प्रशंसा करते हो मेरे चरित्र के कारण; पर तुम भूल जाते हो कि जिनकी तुम निन्दा कर रहे हो वह किन परिस्थितियों में पैदा हुए और पाले-पोसे गए हैं। कौन कह सकता है कि उन परिस्थितियों में मैं स्वयं जन्मा और पाला-पोसा गया होता, तो मैं भी उनके जैसा ही न बन जाता। मनुष्यों का चरित्र उनकी जन्म-सम्बन्धी परिस्थितियों पर भी बहुत अधिक निर्भर रहता है। मेरी उनकी जन्म-सम्बन्धी परिस्थितियों में बड़ा अन्तर है। और फिर किसी के चरित्र के सम्बन्ध में अपना निर्णय देने वाले हम कौन हैं! यह काम तो ईश्वर का है। हमें तो अपनी आत्मा के आदेशानुसार अपना-अपना कार्य करते रहना चाहिए और बस!

—पद्मकान्त मालवीय

स्नेह-वार्ता

एक दौरे में मालवीयजी और गांधीजी साथ जा रहे थे। मैं भी साथ में था। गांधीजी ने मुझसे पूछा, "कहिये, आपके मधुमेह का क्या हाल है?" और बोले, "मेरे पास उसकी बहुत अच्छी दवा है।" मैंने कहा, "आपके पास तो समस्त रोगों की एक ही दवा है, उपवास।" महात्माजी ने कहा, "नहीं-नहीं; वह ऐसी दवा है कि सात दिन सेवन कर लोगे तो यावज्जीवन यह रोग फिर कभी नहीं होगा। मैं इस बात की गारण्टी दे सकता हूँ।" मालवीयजी बोले, "इनकी दवा के फेर में न पड़ना!" गांधीजी ने कहा "हाँ-हाँ, हीरे-मोती की भस्म का सेवन करना चाहो तो पंडितजी की दवा करो। वह मेरे पास कहाँ!"

और दोनों खिलखिला कर हँस पड़े।

संगीतज्ञ

आज रात ८-९ बजे के क़रीब एक गायक महाशय महाराज (मालवीयजी) को गाना सुनाने आये। वे महाराज के सुपरिचित हैं, अक्सर आ जाया करते हैं। मैं भोजन करके उठा ही था कि उनके सितार की तुनतुनाहट सुनायी पड़ी। मुझे भी संगीत से कुछ प्रेम है। मैं भी महाराज के पास जा बैठा।

गायक से महाराज ने मालकोश में कुछ गाने को कहा। गायक ने तुलसीदास का एक भजन गाया। फिर भीमपलासी, केदारा और विहाग में कई गाने सुनाये। अन्त में महाराज ने सोहनी में कुछ गाने को कहा। गायक महाशय के कंठ में पहले गाये हुये रागों के स्वर ऐसे गूँज रहे थे कि सोहनी पर वे चढ़ ही न सके।

संगीत के रसिक और रागों के स्वर-ताल से परिचित महाराज को उनका

निष्फल प्रयत्न असह्य हो उठा। महाराज उठ बैठे और एक सोहनी उन्हें याद थी, उसे स्वयं गाने लगे :

नींद तोहे बेचोंगी, जो कोउ गाहक होय।
आय रे ललना, फिरि गये अंगना, मैं पापिनि रही सोय।
जो कोउ गाहक होय !

कैसा सुन्दर दृश्य था ! अस्सी वर्ष के वृद्ध पुरुष के कण्ठ से सोहनी के स्वर का सर्वांग-सुन्दर स्वरूप निकलना क्या कम आश्चर्य की बात थी !

रस-चिकित्सा

महाराज उन दिनों कुछ अस्वस्थ थे। ज्वर था। डाक्टर और वैद्य दोनों उनको शान्ति से चुपचाप बिछौने पर पड़े रहने का अनुरोध करते रहते थे।

महाराज ने तार देकर मुझे प्रयाग से बुलवाया था। अतः मेरा उनके सामने उपस्थित होना अनिवार्य था। मैं सामने गया, उन्होंने देखते ही पूछा, "ग्राम-गीत की पुस्तक लाये हैं ?" यद्यपि तार में पुस्तक साथ लेने की बात नहीं थी, पर मैं उनकी रुचि से कुछ-कुछ परिचित हो गया था, इससे उक्त पुस्तक साथ लेता गया था। मैंने कहा, "हाँ, ले आया हूँ।" आज्ञा हुई, "कुछ गीत सुनाइये !"

एक डाक्टर साहब पास बैठे थे। याद पड़ता है कि प्रिंसिपल ध्रुव भी वहाँ उपस्थित थे। दोनों की राय नहीं थी कि महाराज कोई दिमाग़ी परिश्रम करें।

मैंने दो-तीन गीत, जो उनको बहुत प्रिय थे और जिन्हें उस दिन के पहले भी कई बार सुन कर उनका रस ले चुके थे, सुनाये।

महाराज का हृदय बहुत सुकुमार है। इससे उस पर करुण रस के गीतों का इतना प्रभाव पड़ता है कि उनकी आँखों में आँसू आये बिना नहीं रहते।

सो आँसू छलक आये।

अन्त में मैंने 'धीरे बहु नदिया' वाला गीत सुनाया। मैंने उसे ज़रा स्वर से गाकर सुनाने की चेष्टा की, पर मैं उसे ठीक स्वर से नहीं गा रहा था, यह उनको असह्य हो गया। वे उठ बैठे और यह कह कर—"रामनरेशजी, यह मल्हार है, इस तरह गाया जाता है···" स्वयं गाने लगे।

सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ; क्योंकि वे ठीक उसी स्वर में गा रहे थे जिस स्वर में सुलतानपुर जिले के एक गाँव पापर की एक जीर्ण-शीर्ण बुढ़िया, भवानी के मेले में जाती हुई, गा रही थी। उसी से सुन कर मैंने लिखा था। अवश्य ही उन्होंने उस गीत को कहीं गाँव में, विश्वविद्यालय के दौरे के समय सुना होगा। महाराज की मेधा-शक्ति इतनी प्रबल है कि बीस-पच्चीस वर्ष पहले के सुने हुए गीत के शब्दों को ही नहीं, उसके स्वर और लय को भी अभी तक वैसा ही कण्ठ में रख छोड़ा है।

मालवीयजी का उठकर बैठना और गाने लगना डाक्टर को प्रिय नहीं लग रहा था। जितना कि हम दोनों सुख अनुभव कर रहे थे, उतना ही डाक्टर साहब खिन्न हो रहे थे। अपना-अपना भाग्य !

गीत समाप्त करके, डाक्टर साहब की घबराहट को लक्ष्य करके महाराज कहने लगे, "डाक्टर साहब ! मैं अपना इलाज जानता हूँ। मुझे दवा मिल गई है। देखिये, मेरा ज्वर उतर रहा है न ?"

डाक्टर ने नाड़ी देखी, वास्तव में ज्वर उतर गया था। डाक्टर साहब निश्चिन्त होकर, मुस्कराते हुए, उठकर चल दिए।

असाम्प्रदायिक

सन् १६३२ या ३३ में काशी में हिन्दू-मुसलमानों में बड़े ज़ोर का दंगा हुआ। अपने-अपने मुहल्लों और घरों में से डर के मारे दोनों ही नहीं निकलते थे। दोनों ज़ातियों के नित्य कमा कर खाने वालों की दशा बड़ी शोचनीय थी।

हिन्दुओं को सहायता पहुँचाने के लिए वहाँ के प्रमुख नागरिकों की एक सहायता-समिति बनायी गई। मालवीयजी तथा बा० शिवप्रसाद गुप्त इत्यादि सभी इस कमेटी में थे। मालवीयजी से किसी ने कहा कि मुसलमान मुहल्लों में मुसलमान भी भूखों मर रहे हैं। मालवीयजी ने तुरन्त ही आज्ञा दी कि मुसलमानी मुहल्लों में भी सहायता पहुँचायी जाय।

कुछ लोगों ने इसका विरोध किया और कहा कि उन्हें मरने दीजिये। उन्हें खिलाने के लिए हमारे पास पैसे नहीं हैं।

मालवीयजी अपनी बात पर दृढ़ रहे और बा० शिवप्रसादजी गुप्त से उन्होंने कहा, "निस्सहाय मुसलमानों को भी वैसी ही सहायता मिलनी चाहिए, जैसी हिन्दुओं को दी जा रही है।"

गुप्तजी चेक देने लगे, तो लोगों ने उनको भी रोका। गुप्तजी ने कहा, "भाई, मैं क्या करूँ! मालवीयजी का हुक्म है।" मालवीयजी ने स्वयं एक छोटी लारी पर खाने का सामान रखवाकर मुसलमानी मुहल्लों में भेजा। लारी एक बंगाली बाबू की थी और वह उसे खुद ही चला रहे थे। जब वह मुहल्ले में पहुँचे, तब किसी मुसलमान ने एक पत्थर मारा, जिससे लारी का शीशा टूट गया। बंगाली बाबू के मुँह पर शीशे के टुकड़ों से घाव हो गए और मुँह लहू-लुहान हो गया। वह लारी लेकर लौट आये। मालवीयजी ने लारी लेकर फिर भेजी और इस तरह अपने घरों में खुद क़ैद होकर भूखे मरने वाले मुसलमानों को खाना मिला। इस घटना के बाद डाक्टर मंगलसिंह गांधीजी के नाम मालवीयजी की कोई ज़रूरी चिट्ठी लेकर दिल्ली गये। गांधीजी ने डाक्टर साहब को देखते ही आश्चर्य से पूछा, "आप मालवीयजी को अकेला क्यों छोड़ आये?"

इसके बाद गांधीजी ने चिठ्ठी पढ़ी और दंगे का हाल पूछा। मुसलमानों को सहायता पहुँचाने वाली बात सुन कर वह गद्‌गद हो गए।

कहाँ तक रोकियेगा ?

विश्वविद्यालय के पास बाबू शिवप्रसाद गुप्त की कोठी है। गुप्तजी महाराज (मालवीयजी) पर बड़ी श्रद्धा और बड़ा प्रेम रखते हैं। बहुत-सी बातों में मौलिक मतभेद होने पर भी गुप्तजी की श्रद्धा में अन्तर नहीं पड़ता, यह गुप्तजी के विशाल हृदय की एक ख़ास विशेषता है।

पहले महाराज गुप्तजी के यहाँ प्रायः ठहरा करते थे। एक बार जब वे उनके यहाँ ठहरे हुए थे, मिलने वालों से महाराज को तंग न होने देने के लिए, गुप्तजी ने पहरा बैठा दिया। किसी का ज़रूरी काम होता, तो वह पहले गुप्त जी की आज्ञा प्राप्त कर लेता, तब महाराज के सामने जाने पाता।

महाराज को जब मालूम हुआ कि मिलने वाले रोक दिये जाते हैं और देर तक बाहर बैठे रहकर वे वापस चले जाते हैं, तब उन्होंने दूसरी राह मे, जिधर पहरा नहीं था, मिलने वालों को बुलाना शुरू किया। गुप्तजी को पता चला तो उन्होंने उधर भी पहरे का प्रबन्ध कर दिया।

महाराज को जब इसका भी पता चल गया तब वे कोठी से निकल कर कुछ दूरी पर एक पीपल के पेड़ के नीचे, चबूतरे पर जाकर बैठने लगे। गुप्त जी को पता चला; मन ही मन उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली होगी।

अब तक दोनों ओर से पेंच और उसकी काट चुपचाप चलती थी। जब गुप्तजी ने मन के मुताबिक़ भीड़ का नियन्त्रण नहीं होते देखा, तब एक दिन उन्होंने महाराज से कहा, "मैं तो परास्त हो गया !"

महाराज ने बड़े प्रेम के स्वर में कहा, "भाई, न जाने कौन कितनी दूर से क्या दुःख लेकर आया है, उसे बिना सुने कैसे वापस जाने दूँ ! और यह तो मेरी हमेशा की आदत है, अब नहीं छूट सकती। एक बार गांधी जी ने कहा था, 'पंडितजी की दया अब उनकी दुश्मन बन गई है।' "

गुप्तजी के पास इसका उत्तर ही क्या हो सकता था !

ग़रीबों के मसीहा

ग़रीब विद्यार्थियों के प्रति मालवीयजी महाराज का अटूट प्रेम था। उनकी सहायता के लिए वे सदैव उद्यत रहते थे। विश्वविद्यालय के अनेक ग़रीब विद्यार्थी जब फ़ीस न जमा कर सकने के कारण प्रायः परीक्षा में बैठने से रोक दिये जाते थे तो वे मालवीयजी की शरण लेते थे। १५ फ़ी-सदी विद्यार्थियों को फ़ीस की छूट हिन्दू विश्वविद्यालय में नियमानुसार दी जाती थी। ये विद्यार्थी उस १५ प्रतिशत के अतिरिक्त होते थे। मालवीयजी घर के बड़े-बूढ़े की तरह पहले उक्त विद्यार्थियों से उनके घर की कठिनाइयों को बड़े ही स्नेह और बहुत सहानुभूति के साथ सुनते, फिर कहते, "कोई बात नहीं है। तो जब तुम परीक्षा पास करके विद्यालय से निकलोगे और पैदा करने लगोगे, तब अपनी इस फ़ीस के रुपये विश्वविद्यालय को चुका दोगे न?" कौन विद्यार्थी था जो 'न' कहता! और मालवीयजी तुरन्त उसके प्रार्थना-पत्र पर लिख देते—"चूँकि विद्यार्थी वास्तव में ग़रीब है इस समय अपनी फ़ीस के रुपये नहीं दे सकता, पर आगे चल कर देने का वायदा करता है, लिहाज़ा इसे परीक्षा में शामिल होने का अवसर दिया जाय।" और विद्यार्थी मन ही मन अपने कुलपति को धन्यवाद देता हुआ चरण-स्पर्श कर चला जाता था।

एक दिन सवेरे कुछ विद्यार्थी आये थे, कुछ सिफारिश चाहते थे। जैसा वे चाहते थे, महाराज ने लिख दिया, बल्कि दो-एक ज़ोरदार शब्द और भी डाल दिये। मैंने बैठते ही कहा, "ग़रीब विद्यार्थियों के लिए आपके हृदय में बड़ी जगह है।" महाराज कहने लगे, "मैं ग़रीब माता-पिता का पुत्र हूँ, इससे ग़रीब विद्यार्थियों के कष्ट को समझता हूँ। जिनके माता-पिता की मासिक आय तीन-चार रुपये भी नहीं, वे विश्वविद्यालय की लम्बी फ़ीस न दे सकने के कारण विद्या से वंचित रह जाते हैं, यह बात मुझे बड़ी पीड़ा पहुँचाती है। मैंने १५ फ़ी-सदी विद्यार्थियों की फ़ीस माफ करने का नियम चला रखा था, अब १० फ़ी-सदी कर दिया गया है। इससे मुझे बड़ा कष्ट होता है"।

१९३५ में बिहार में जो भूकम्प आया था, उसका प्रभाव विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों पर भी पड़ा और बहुत-से विद्यार्थियों ने फ़ीस माफ़ कराने को प्रार्थना-पत्र भेजे। तत्कालीन प्रिंसिपल ने कहा कि जितनी फ़ीस कौंसिल के

निर्णय के अनुसार माफ़ हो चुकी है, उससे अधिक मैं माफ़ नहीं कर सकता। उन्होंने यह भी कहा कि जो लोग फ़ीस नहीं दे सकते, उनके लिए बेहतर होगा कि पढ़ना छोड़ दें और दूसरे कामों में लग जायं।

इस पर विद्यार्थी-गण महाराज के पास पहुँचे। महाराज ने प्रिंसिपल से इस सम्बन्ध में बातचीत की। प्रिंसिपल का तर्क सुनकर महाराज ने कहा, "आप इतने ऊँचे बैठे हैं कि आपको पता ही नहीं कि नीचे क्या हो रहा है। कौन कह सकता है कि इन ग़रीबों में कितने ध्रुव, कितने शिवाजी और कितने राणा प्रताप छिपे हैं!" महाराज के कहने पर कौंसिल ने पाँच फ़ी-सदी विद्यार्थियों की फ़ीस और माफ़ कर दी।

ग़रीब विद्यार्थियों के प्रति महाराज की सहानुभूति स्वाभाविक है। मैंने पूछा, "यदि आप ग़रीब माता-पिता की सन्तान न होते तो?"

महाराज ने तत्काल उत्तर दिया, "तो मैं आज यहाँ न होता।"

१५ फ़ी-सदी की छूट तो कहने के लिए थी, महाराज २०-२२ फ़ी-सदी तक पहुँचा देते थे। जहाँ किसी विद्यार्थी ने अपने कुटुम्बियों का कष्ट सुनाया, कि महाराज पिघले, और वह फिर निष्फल नहीं जायगा।

भाग्यशाली पिता

विश्वविद्यालय की क़रीब-क़रीब सभी मुख्य सड़कों का परिभ्रमण करते हुए महाराज शिवाजी-हाल में पहुँचे। व्यायामशाला में विद्यार्थी व्यायाम कर रहे थे। महाराज को देखते ही सब व्यायाम छोड़कर उनके निकट आकर, घेर कर खड़े हो गए। प्रायः हरेक ने महाराज के चरण-स्पर्श करके प्रणाम किया। महाराज अनेक होनहार पुत्रों के बीच भाग्यशाली पिता की भाँति बैठ गए। विद्यार्थियों के सुगठित शरीर, उनके गठीले भुजदंड, पृथुल जंघाएँ और सिंह की-सी गर्दन देखकर महाराज पुलकित हो गए।......

महाराज ने कइयों से व्यायाम कराके देखा और सब को 'वीर बनो'

'बहादुर बनो' का उपदेश देकर वे उठ खड़े हुए।

लंगोट नहीं खुला

उसी समय कुछ विद्यार्थी सामने की सड़क से आये। महाराज के चरण छूने के बाद वे सामने खड़े हो गए। महाराज ने पूछा, "कसरत करते हो?" उनमें से सिर्फ एक ने कहा कि वह घर पर कसरत कर लेता है। महाराज ने कहा, "कसरत करो, कुश्ती लड़ना सीखो; यह दुबला-पतला शरीर किस काम का!"

महाराज वहाँ से पीछे लौटे। रास्ते में और भी विद्यार्थी, जो भ्रमण के लिए निकले थे, मिले। सबसे महाराज ने यही प्रश्न किया, 'कसरत करते हो?' प्रायः अधिकांश ऐसे ही मिले जो कसरत नहीं करते थे।

महाराज वाटिका के बीच वाले गोलाकार स्थान में आकर बैठ गए। वहाँ विद्यार्थियों की अच्छी संख्या आ उपस्थित हुई। महाराज ने सबसे कसरत करने का प्रश्न किया। मैंने गिना, २१ में केवल ३ ऐसे निकले, जिन्होंने कहा कि वे शिवाजी-हाल जाते हैं और कसरत करते हैं। महाराज ने व्यायाम करने के लिए सबको उपदेश दिया और उनमें से दो-तीन जोड़ लगाकर उनकी कुश्ती भी देखी। कुश्ती देखकर वे बहुत हँसते थे और दोनों की तारीफ़ करते थे। महाराज कहने लगे, "मैंने कई वर्ष कुश्ती लड़ी है। कुश्ती से मन में इतनी हिम्मत हो गई है कि अपने ड्योढ़े-दूने को कहीं पाऊँ तो पटक दूँ।" फिर विद्यार्थियों से कहा, "लंगोट पहना करो!"

विद्यार्थियों को विदा करके महाराज आगे चले। मैंने रास्ते में पूछा, "क्या आप हमेशा लंगोट पहनते हैं?" महाराज ने कुछ गर्व अनुभव करते हुए कहा, "मैंने लड़कपन में लंगोट बाँधना शुरू किया, वह आज तक नहीं खुला।"

अपूर्व याचक

मालवीयजी उन दिनों बीकानेर गये हुए थे और वहाँ अपने मित्र महाराजा

बीकानेर के अतिथि थे। उन्हें पता चला कि इन दिनों राज्य में एक करोड़पति कोई जैन सेठ भी आये हुए हैं। मालवीयजी को चिन्ता हुई, उन जैन सेठ साहब से हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए कुछ चन्दा प्राप्त करने की। उन्होंने महाराजा साहब से कहा। महाराजा साहब ने उत्तर दिया कि यह आपको एक पैसा न देगा, उससे कहना व्यर्थ है। मालवीयजी ने कहा, "तो प्रयत्न करने में क्या हर्ज है ? ख़ैर, आप न कहिये, मैं तो माँगूगा ही। कुछ तो मिलेगा ही।" उन्होंने अपने निजी सचिव द्वारा उनके स्थान इत्यादि का पता लगाया और एक दिन प्रातःकाल उनके यहाँ पहुँच गए। सूचना करायी। सेठजी मालिश करा रहे थे। उन्होंने मिलने में असमर्थता प्रकट की; मुनीमजी द्वारा आने का कारण पुछवाया तो मालवीयजी ने बतला दिया। सेठजी ने कहलाया कि मैं तो जैन संस्थाओं को छोड़कर अन्य किसी संस्था को दान ही नहीं देता। मालवीयजी ने कहलवाया कि मैं तो एक लाख की आशा करके आया था, कहिये, पचास हज़ार ही दे दें। सेठजी ने साफ़ ना कर दी। तब कहलवाया, अच्छा, पच्चीस हज़ार ही दे दें। सेठजी ने फिर ना कर दी। घटते-घटते मालवीयजी एक रुपये तक आ गए; पर सेठजी ने एक रुपया देना भी स्वीकार नहीं किया। मालवीयजी को खाली हाथों लौटना पड़ा। वापस आने पर महाराजा साहब ने पूछा, "पंडितजी, क्या हुआ ? कुछ मिला ?" मालवीयजी ने उत्तर दिया, "अभी तो नहीं मिला, पर मिलेगा ज़रूर ; एक लाख तो उनसे लेना ही है।"

अब मालवीयजी ने उनके गुरु का पता लगवाया और उनसे मिलकर कहा कि आप सेठजी से विश्वविद्यालय में जैन-धर्म का एक विभाग खोलने के लिए रुपये दिलवाइये। गुरुजी राज़ी हो गए और सेठजी को दो लाख रुपये इस कार्य के लिए मालवीयजी को देने ही पड़े। महात्माजी मालवीयजी को 'भिखारियों का सम्राट्' ठीक ही कहते थे।

—रामनरेश त्रिपाठी

कृष्ण-सुदामा

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के उत्सव में तीन चार दिन रह गए थे। मालवीयजी के मित्र पं० हरिदत्तजी शास्त्री के साथ मैं मालवीय जी के दर्शनों को गया था। अपने बाहरी कमरे में वे लेटे हुए थे। दुर्बलता के कारण उनके हाथ काँप रहे थे। हम लोगों से कुशल-मंगल पूछ ही रहे थे कि एक बुड्ढा ग्रामीण, जिसकी कमर प्राय: झुक गई थी, लाठी टेकता दरवाज़े पर आया। अपनी पगड़ी उतार कर उसने साष्टांग दंडवत् किया, तब मालवीयजी की दृष्टि भी उस पर पड़ी। दृष्टि पड़ते ही जो दृश्य वहाँ देखा गया, वह स्वर्गीय था। दोनों के ही नेत्रों से प्रेमाश्रु गिर रहे थे और किसी से बोला नहीं जाता था। कुछ समय बाद स्वस्थ होने पर कुशल-क्षेम, उलहने प्रारम्भ हुए। "एतने दिन कहाँ रहल, ? काहे नाहीं खबर लेहल," ? "तोहई काहे नाहीं खोज लेहल ?" आदि-आदि।

आँसू बह रहे हैं, बोला जाता नहीं, कण्ठ भरा आता है। बोलने की इच्छा भी दोनों ओर बड़ी प्रबल। बूढ़े सज्जन, जिनका नाम भूल गया हूँ, कुनबी थे। बात-बात में यह तय हुआ कि गले लगकर जैसे हम लोग गाया करते थे, आज गावें। मालवीयजी से तो गद्गद कण्ठ से बोला ही नहीं जाता था। उन्होंने इशारा किया कि 'गाओ !' वह उनके पैर पकड़ कर गाने लगा। मुँह में दाँत नहीं, परन्तु उसने प्रेम का वातावरण उपस्थित कर दिया। महात्माजी के पास जाने का प्रस्ताव हुआ। इस सबके बाद वे महाशय वहीं अतिथि हुए।

निष्कपट प्रेम की बाल-क्रीड़ा के स्मरण के साथ यह झाँकी अपूर्व थी। हम लोगों के हृदयों पर उस दृश्य ने जो प्रभाव डाला, वह अमिट है। कृष्ण-सुदामा की कथा पढ़ने में वह आनन्द नहीं, जो इस दृश्य को देखने में आया।

—सन्तशरण मेहरोत्रा

अविचल और अडिग

क़रीब तीस वर्ष पहले की बात है। मैं मालवीयजी के दर्शनार्थ गया हुआ था, जो दिल्ली की सब्जीमंडी में अवस्थित बिड़ला मिल्स के नजदीक ही बिड़ला-हाउस में ठहरे हुए थे। मैंने उन्हें श्री घनश्यामदास बिड़ला के साथ अनुपात-सम्बन्धी वाद-विवाद में अत्यधिक व्यस्त पाया। पौंड के साथ रुपये का अनुपात १ शिलिंग ४ पेंस से बढ़ाकर १ शिलिंग ६ पेंस कर दिया गया था। बिड़लाजी मालवीयजी को उद्योगपतियों के दृष्टिकोण के पक्ष में लाने का प्रयत्न कर रहे थे। उस दृष्टिकोण के विपरीत था किसानों का दृष्टिकोण। मालवीयजी किसी के भी दबाव में आकर अपनी सम्मति बनाने वाले तो थे नहीं। वह बिड़लाजी से प्रश्न पर प्रश्न पूछते गए। अन्त में वाद-विवाद अनिश्चित ही रहा और मालवीयजी ने यह कह कर उसे समाप्त कर दिया कि मुझे हृदयनाथजी कुँजरू से राय लेनी पड़ेगी।

ये शब्द मेरे हृदय में घर कर गए। निस्सन्देह ये शब्द पंडित कुँजरू के लिए महान् प्रशंसात्मक हैं और साबित करते हैं कि मालवीयजी का उन पर कितना अधिक विश्वास था! बिड़लाजी से उन्होंने अपने इन छः शब्दों वाले वाक्य में केवल इतना ही कहा था, "कुँजरू एक निष्पक्ष आदमी है; जब कि उद्योगपति होने के कारण तुम निष्पक्ष नहीं हो।"

—एम० एन० थोलाल
पुराने सुप्रसिद्ध पत्रकार

किसान और मालवीयजी

मालवीयजी और उनका 'अभ्युदय' दोनों किसानों के हिमायती हैं। फिर भी मालवीयजी का सम्बन्ध राजा-महाराजाओं, रईसों और ज़मींदारों से होने से कुछ लोगों का यह विचार है कि मालवीयजी बड़े लोगों का ख़याल अधिक रखते हैं। बात ऐसी नहीं है। आगरा लगान बिल के प्रान्तीय कौंसिल में पेश होने के समय की बात है। मालवीयजी प्रयाग पधारे और किसी ने उनसे जाकर यह कह दिया कि 'अभ्युदय' किसानों के पक्ष में कुछ नहीं लिखता। मालवीयजी ने उसी समय मुझे बुलवाया और पूछा, " 'अभ्युदय' में किसानों के पक्ष में क्यों नहीं लिखते ?" मैंने उत्तर दिया कि बिल के प्रकाशित होने से पूर्व ही से 'अभ्युदय' में बराबर किसानों के पक्ष में लिख रहा हूँ और बिल के सम्बन्ध में उस में कितने ही लेख, नोट और अग्रलेख निकल चुके हैं। मेरा उत्तर सुनकर मालवीयजी को सन्तोष हुआ। फिर भी उन्होंने हिदायत की, " 'अभ्युदय' देश की सेवा के लिए निकाला गया है। उसमें किसानों के हित की बातें अधिक हों। किसान बड़े दुःखी हैं और उनके दुःखों के आगे ज़मींदारों का ज़रा भी लिहाज़ न करो !"

—सत्यव्रत

सम्पादक मालवीयजी

कल इन पंक्तियों के लेखक को पूज्य मालवीयजी के साथ हिन्दी पत्र-सम्पादन के विषय में लगभग आध घण्टे तक बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पूज्य मालवीयजी ने पहले 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन किया था। और 'अभ्युदय' तो उन्हीं का चलाया हुआ है। हिन्दी जनता को अभी तक यह ज्ञात नहीं कि 'अभ्युदय' के लिए मालवीयजी को कितना शारीरिक परिश्रम करना पड़ा है और कितनी आर्थिक हानि उठानी पड़ी है। मालवीयजी यद्यपि आजकल अनेक कार्यों में व्यस्त हैं, तथापि हिन्दी सम्पादन-कला की उन्नति की ओर भी उनका ध्यान है। उन्होंने कहा: "हम लोगों को चाहिए कि अपने पत्र के प्रत्येक दिन के लिए कोई न कोई विशेष विषय नियत कर लें। मान लीजिये, सोमवार को आप साहित्य पर लिखते हैं, मंगल को ग्राम-संगठन, बुध को शारीरिक उन्नति, बृहस्पति को शिक्षा और शुक्र को अन्य कोई विषय। इसी प्रकार किसी निश्चित क्रम के अनुसार हमें दिन बाँट लेने चाहिए और दो पृष्ठ उसी नियम पर लिखने चाहिए जिसके लिए वह दिन नियत है। अत्यन्त आवश्यक समाचार आने पर हम इस विषय के पालन करने में कभी-कभी शिथिलता भी कर सकते हैं, लेकिन साधारण तौर पर हमें प्रयत्न ऐसा करना चाहिए जिससे हम अधिक से अधिक पाठकों की रुचि के अनुकूल मसाला दे सकें। यदि ढंग से परिश्रम के साथ पत्र का संचालन किया जाय, तो ग्राहक-संख्या भी बढ़ सकती है और जनता का भी विशेष उपकार हो सकता है।"

—बनारसीदास चतुर्वेदी

सर्वाधिक ज्ञानशील राजनीतिज्ञ

मुझे पं० मदनमोहनजी मालवीय को बहुत ही वांछनीय परिस्थितियों में, बहुत ही निकट से जानने का अवसर मिला था। मेरी दृष्टि में अपने समय के देश के समस्त राजनीतिज्ञों में वह सबसे अधिक ज्ञानशील थे (To my mind he was one of the best equipped politician of his time in the country.) उनका समस्त जीवन, चाहे विद्यार्थी के रूप में हो या वकील के रूप में, अपने-आपको सार्वजनिक जीवन के उपयुक्त बनाने के एकमात्र उद्देश्य से प्रभावित था। सभा-मंच पर उनकी उपस्थिति अत्यन्त प्रभावपूर्ण होती थी। दुबला-पतला लम्बा क़द, माथे पर चन्दन का टीका और एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहने हुए वैदिक युग के ब्राह्मण-विशेष के रूप में उन्हें किसी भीड़ में भी पहचाना जा सकता था।

आचार-विचार में वे अत्यन्त पवित्र थे और सदैव ही अपने सम्पर्क में आने वाले सभी लोगों को धीमी चाल से चलने का उपदेश देते थे। हाँ, केवल राजनीति में वे अत्यन्त गतिशील हो जाते थे और राजनीति में उन्होंने शायद ही कभी समझौता करना पसन्द किया हो। चाहे व्यवस्थापिका-भवन में हों चाहे सार्वजनिक सभा में, उनके भाषण सरकारी अन्यायों, धृष्टताओं और संगठित ढोंगों पर ज़ोरदार हमला करने वाले होते थे। बोलते समय वे भावपूर्ण अंग-विक्षेप बहुत कम करते थे, कभी-कभी केवल हाथ ऊँचा उठाते थे और लार्ड रीडिंग ने एक बार जैसा कहा था, उनकी रजत आवाज़ उनके प्रभाव का मूल स्रोत थी। वे अपने व्याख्यानों को शायद ही कभी तैयार करते रहे हों, और इस मान्यता के प्रकट उल्लंघन थे कि सार्वजनिक वक्ता को अपना भाषण पहले ही सावधानी के साथ तैयार कर लेना चाहिए और सुन्दर अंशों को तो कंठस्थ कर लेना चाहिए।

जब वह बोलते थे तो श्लेष अपने-आप चमक आते थे। रॉलट बिल पर

भीषण प्रहार करते समय का उनका वह वाक्य कि 'बिल अन्यायपूर्ण, स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के विपरीत और व्यक्ति के अधिकारों को कुचलने वाला है' (unjust subversive of the principle of liberty and destructive of the elementary rights of individuals.) तो आज तक भी, जब कि हम स्वतन्त्र हो चुके हैं, नहीं भुलाया जा सकता है। वर्षों तक ये शब्द, जब कभी राजनीतिज्ञ किसी अप्रगतिशील क़ानून की निन्दा करना चाहते थे तो, उनकी ज़बान पर रक्खे रहते थे।

पत्रकारों के गुरु

१९२२ में हिन्दू विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की हड़ताल चल रही थी। मुझसे उक्त हड़ताल के विषय में एक अच्छी कहानी प्राप्त करने को कहा गया। जब मैं मालवीयजी के निवास-स्थान पर पहुँचा तो वह बाहर जाने के लिए स्टेशन को रवाना होने ही जा रहे थे। इंजीनीयरिंग कालेज के प्रिंसिपल प्रोफेसर किंग उनके साथ थे। उन्होंने मुझे अपने साथ ही गाड़ी में बैठ जाने को कहा और मुझसे रास्ते में बिना कुछ भी छिपाये हुए सारी बातें बतला दीं। और सबसे अन्त में हँसते हुए मधुर स्वरों में कहा, "पर देखो, इसकी एक बात भी तुम्हारे पत्र में तब तक नहीं छपनी चाहिए जब तक कि मैं न कहूँ। यदि कल के समाचार-पत्रों में इस सम्बन्ध में कुछ भी छपा देखा तो कनेटी पड़ेगी।" और मैंने अपना वायदा पूरा किया।

अडिग और शान्त

साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा हो जाने के बाद मैं मालवीयजी के पास उनकी सम्मति जानने के लिए गया। उस समय वे अत्यन्त व्यस्त थे और उन्होंने मुझे कोई आधा दर्जन वाक्य लिखा दिए और कहा कि इन पर से तुम अपनी कहानी बना लो। जब दूसरे दिन वक्तव्य तैयार करके मैं उनके पास पहुँचा तो उसे देखकर उन्होंने मेरी पीठ ठोंकी और कहा, "बिलकुल ठीक-ठीक ऐसा ही मैं भी लिखता।" १९३०-१९३२ में बुलायी गई एकता-कान्फ्रेंस में, जो पहले डाक्टर काटजू के स्थान पर और बाद में 'दरभंगा कौंसिल' में हुई थी, किया गया उनका अथक प्रयत्न कभी भुलाया नहीं जा सकता। यह कान्फ्रेंस क़रीब

एक महीने तक चलती रही। देश के विभिन्न मतों के राजनीतिज्ञ इस सभा में सम्मिलित हुए थे। वे सब परस्पर विरोधी-दिशाओं में खींचातानी कर रहे थे। केवल मालवीयजी सारे समय अडिग और शान्त रहे और सारे समय उत्तेजित तथा घायल भावनाओं को शान्त करते रहे। उस समय उनकी अवस्था ६० से ऊपर थी, पर क़रीब एक महीने तक वह रात में भी नहीं सोये।

सहशिक्षा

बीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में लड़के-लड़कियों की सह-शिक्षा का प्रश्न ज़ोरों से सामने था और स्त्रियों के अधिकारों पर ज़ोरों से बहस चल रही थी। इस सम्बन्ध में उनकी सम्मति जानने के लिए मैं एक बार मालवीयजी से मिला। उन्होंने कहा था : "स्त्रियों में पुरुषोचित और पुरुषों में स्त्रियोचित गुण आरोपित करने के प्रयत्न में हम दोनों की ही उन्नति का मार्ग अवरुद्ध कर रहे हैं।"

मालवीयजी काया-कल्प कर चुके थे। मैं दर्शनार्थ गया हुआ था और युद्ध-दुन्दुभि की ध्वनि उनकी नीरव और एकान्त कुटिया तक भी पहुँच चुकी थी। उन्होंने मुझसे कहा—"यह युद्ध तो पिछले महायुद्धों से भी अधिक विनाशकारी होने जा रहा है!"

भिक्षापात्र का चमत्कार

एक मित्र ने एक बार कहा था कि हिन्दू विश्वविद्यालय तो भिखारी के भिक्षा-पात्र से उत्पन्न हुआ है। मालवीयजी स्वयं भी अपने को 'कुशल भिखारी' कहा करते थे। १९१६ में विद्यालय के शिलारोपण-उत्सव में मैं उपस्थित था। देश के चुने-चुने लोग उपस्थित थे। स्वयं वाइसराय भी वहाँ थे। मालवीयजी ने चन्दे की अपील की और देखते-ही-देखते थोड़ी ही देर में कुछ लाख रुपये और जवाहरात इकठ्ठे हो गए।

—एन० के० मुकर्जी

अपूर्व कथावाचक

जब काशी के दशाश्वमेध घाट पर हरिजनों की दीक्षा का महायज्ञ सम्पन्न हुआ था, तब सभा के दिन महाराज की आज्ञा से एक सुप्रसिद्ध व्यासजी की कथा का आयोजन किया गया था। वे घड़ी देखकर पूरे साठ मिनट के भीतर एक प्रसंग को संगीत के साथ सुनाने का दावा रखते थे। आफिस वाली छोटी घंटी उनके सामने होती और उसके बजाते ही उनके साथ की मंडली संगीत शुरू कर देती थी। पुनः बजाते ही संगीत शान्त होकर कथा चल पड़ती थी। व्यासजी की कथा अच्छी होती थी।

उस दिन कथा में द्रौपदी-चीरहरण का प्रसंग था। व्यासजी की कथा समाप्त हुए एक घण्टा बीत चुका था। गोधूलि के समय महाराज आये। दीक्षायज्ञ की समाप्ति पर उन्हें कुछ कहना था, बैठ गए प्रवचन करने। बीच में प्रसंगवश द्रौपदी का करुण प्रसंग उन्होंने भी चलाया। जहाँ व्यासजी की कथा से लोग आनन्दित होकर रह गए थे, वहाँ महाराज की आँखों से टपकते हुए अश्रुबिन्दुओं के साथ समस्त श्रोता स्वयं रो पड़े। यह थी उनकी कथा-शैली और ऐसा था उनका हृदय !

कठिन परीक्षक

गर्मी के दिन थे। बँगले के सामने गोल चबूतरे पर महर्षि मालवीयजी महाराज के आगमन की प्रतीक्षा में संस्कृत-कालेज के दो अध्यापक तथा चार पाँच और लोग बैठे थे, जिनमें साक्षात्कार के लिए आमंत्रित एक अधेड़ सुन्दर संगीतज्ञ भी थे। विश्वविद्यालय के संगीत-विभाग में एक अध्यापक की आवश्यकता थी, ये उसी सम्बन्ध में आये थे। थोड़ी प्रतीक्षा के बाद महाराज, (उस समय मालवीयजी के लिए मेरे छात्रावास में बहु-प्रचलित संबोधन 'महाराज' था) सायंकालीन भोजन समाप्त कर बाहर आये। उनके प्रवेश करते ही कमरे

के भीतर जलता हुआ विद्युत्-दीप जैसे और भी आभादीप्त हो उठा। महाराज बैठे और सब बैठे। कलाकार हाथ जोड़कर खड़ा हुआ। महाराज ने उससे बैठ कर उस समय का राग सुनाने के लिए कहा। उसने अपनी कला का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। महाराज सुनते रहे, १०-१२ मिनटों के बाद बोल पड़े, 'दरबारी में आ जाओ!" संगीत से सर्वथा अनभिज्ञ मैं विस्मित भाव से सुनता-देखता रहा। इसी प्रकार महाराज ने बीच में एक भाव और राग बदलने को कहा। संगीत समाप्त हुआ और महाराज बातों में लग गए। थोड़ी देर बाद सभा विसर्जित होने लगी। कलाकार चरणों पर लोट गया, बोला "महाराज, आज तक ऐसा कठिन परीक्षण मेरा नहीं हुआ।" महाराज के अन्दर चले जाने पर उनकी संगीत-मर्मज्ञता की चर्चा करते हुए लोग वापस हुए।

—रामचन्द्र मालवीय

महतो महीयान्

पाँच वर्ष पूर्व जब मैं विद्यार्थी था, सर्वप्रथम युग-प्रवर्तक ब्रह्मर्षि के चरण स्पर्श का अधिकारी हुआ। निष्प्रयोजन, किन्तु एक महती जीवित अभिलाषा लेकर ही श्री-चरणों का स्पर्श किया था।

विश्वविद्यालय के अपने छोटे से निवास-स्थान पर कम्बल बिछाये पितामह बैठे हुए थे। जो दर्शन को आता, उसे स्वयं आप देखते और अन्दर आने के लिए प्यार-भरे शब्दों में बुलाते, कोई रोक नहीं, शासन नहीं। घर-बाहर सर्वत्र शान्ति, सात्विकता का अखंड साम्राज्य था। प्रकृति स्वयं वत्सला बनी आगन्तुकों को वात्सल्य प्रदान करती थी। प्रत्येक आगन्तुक के हृदय में एक अनुभूति, अन्तःप्रेरणा जागृत हो जाती। महर्षि के सामने पहुँचते ही दर्शक का मस्तक साष्टांग प्रणाम करने को सहसा श्रद्धा से झुक जाता; किन्तु अहो महामना ! वे झट दोनों हाथों से भक्त के मस्तक को सहलाते, और बोल उठते, "चरण-स्पर्श मत करो !"

मैं दरवाजे पर पहुँचा तो अन्दर तीन व्यक्ति बहुत ही साधारण श्रेणी के महामना के निकट चरणों में बैठे कुछ निवेदन कर रहे थे। मैंने झाँककर देखा, तो पितामह ने स्वयं बुलाकर पूछा, "क्या काम है ?" मैंने अपने चिरसंचित पुण्यों को महर्षि के चरणों में अर्पित करने को ज्यों ही चरणों पर मस्तक रखा, पितामह का वह वरद हस्त मेरे सिर पर था, जिसे न भूल सका।

मैं कुछ क्षण आत्मविस्मृत-सा रहा। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे कोई शक्ति मेरे अन्दर प्रवेश कर रही है। मैं मुग्ध था। पितामह ने पूछा, "हाँ, पहले तुम अपना काम बताओ !"

मेरा तो कुछ प्रयोजन न था। मैं कुछ समय सोचता रहा कि कौन-सा

बहाना करूँ कि कुछ देर तक बातें करने का भी सौभाग्य प्राप्त हो। सौभाग्य से एक बात याद आ गई। तुलसीदासजी की जन्मभूमि राजापुर में स्थित तुलसी-स्मारक की सुरक्षा की बात। मैंने निवेदन किया कि तुलसीदासजी का मन्दिर यमुनाजी के प्रवाह से प्रतिवर्ष कटता जा रहा है, कुछ दिनों में उसके प्रवाहित हो जाने की आशंका है।

इतना सुनते ही महामनाजी का अमिताभ चेहरा कुछ फीका पड़ गया। कुछ रुक कर बोले, "यह चिन्तनीय विषय है, हिन्दी-हिन्दू के दुर्भाग्य की बात है। मुझसे कई लोगों ने कहा और वर्षों पहले से मैं इसके लिए विचार कर रहा हूँ। बाधाएँ बहुत हैं, योजनाएँ भी बहुत हैं। भगवान् के भरोसे रह कर ही सफलता की आशा की जा सकती है।"

इतना कहकर फिर मेरी ओर अभिमुख होकर बोले, "तुम वहाँ क्या करते हो?" मैं क्या उत्तर देता, मेरी अन्तरात्मा आत्मवंचना को कोस रही थी। मैंने अपराधी की भाँति अपराध स्वीकार करते हुए क्षमा माँगी—"महाराज, मैं झूठ बोलता हूँ। केवल आपके निकट बैठने के लिए बहाना बनाया है। सुनी-सुनायी बातों का आश्रय लेकर ही निवेदन करने की धृष्टता की है।"

इतना सुनते ही पितामह मुस्कुराये और मेरी ठोढ़ी पर हाथ रखकर प्यार से पुचकारते हुए बोले, "कोई बात नहीं, जब तक तुम्हारी इच्छा हो, बैठे रहो।"

अन्तिम दर्शन

जीवन-संग्राम से कभी परास्त न होने वाले महासेनानी तपोधन पितामह की जरा-जीर्ण काया उन्हें संसार-सभा से उदासीन निरपेक्ष रहने की सूचना दे रही थी; फिर भी समर-सुधीर, निरन्तर संग्रामशील, विजयी योद्धा महामना मालवीय अन्तिम श्वास तक विरत न हुए। उस दशा में भी दर्शन करने का अक्षय सौभाग्य प्राप्त हुआ मुझे।

मैंने देखा, ब्रह्मर्षि आरामकुर्सी पर लेटे हुए दैनिक अखबार सुन रहे थे। मैंने प्रणाम किया। शान्त मुद्रा प्रदर्शित करते हुए पितामह ने संकेत से मेरा

कुशल-प्रश्न पूछा। मैंने उनके यशस्करों में 'जननी' की एक प्रति रख दी।

पत्रिका के टाइटिल पेज पर छपे हुए महाकाव्य 'जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी' को पढ़कर उन्नतमना महामना ने स्वयं क्षीण अस्फुट स्वर में उसे एक बार दुहराया और साथ ही मोती-से दो अश्रु-बिन्दु नेत्रों से ढुलक पड़े। तब मैंने समझी, जननी-जन्मभूमि के आराधक की अतुल श्रद्धा और अनुपम निष्ठा।

मैंने निवेदन किया कि इस मार्मिक पत्रिका के लिए मैं आपका आशीर्वाद चाहता हूँ। यह सुनकर पितामह ने एक बार पत्रिका को प्रारम्भ से अन्त तक उलट-पुलट कर देखा और बहुत ही क्षीण स्वर में कहा, "जननी तो जननी ही है, पर मेरी शुभकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं।" मैंने चरणों में सिर रख दिया। भाव-विभोर था, कुछ मन्द-मन्द सुन रहा था। वे थे पितामह के आशीर्वाद, जिन्हें मेरे मस्तक पर वरद हस्त रखे वे कह रहे थे। मैं ठीक से सुन न सका, केवल इतना ही समझ पाया—

तुम्हारा··························गान।
हिन्दी······हिन्दू············हिन्दोस्तान॥

हमारे महामना पितामह पाँच सहस्र वर्ष पूर्व भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के सजीव और समूर्त इतिहास थे। वे राष्ट्र के लिए ईश्वरीय देन, अनुपम वरदान थे। उनके लिए विशेष्य-विशेषण, उपमा-उपमेय ढूँढ़ना और उनका यशोगान करना असीम को ससीम बनाना है। हम तो कृत-कृत्य हैं इतने से ही कि राष्ट्र के पितामह के राष्ट्रीय परिवार में हम पैदा हुए हैं। इससे बढ़कर हमारा गौरव, हमारा सौभाग्य और क्या हो सकता है!

पितामह का भौतिक शरीर भले ही न हो, किन्तु उनका सूक्ष्म दर्शन, दिव्य तेज और तपःसाधना, हमारे समूचे राष्ट्र के हृदयान्धकार को दूर करेंगे। हम तो सदैव इतने के ही अधिकारी रहे कि पूज्य पितामह को महापुरुष मानकर 'वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्' कह कर प्रणाम किया और अमोघ आशीर्वाद प्राप्त किये, जो हमें कभी भी विमन और कर्तव्यच्युत न होने देंगे।

वाल्मीकि का मन्दिर

मुझसे पहले ही आये हुए मथुरा के एक चौबेजी भी वहीं विराज रहे थे। किसी मन्दिर का मामला सुना रहे थे जिसे मुसलमान अपनाने की कोशिश में थे। शायद मुकदमा भी चल रहा था। महामना बड़ी गम्भीरता से उनकी बातें सुन रहे थे। इसी बीच एक अति साधारण व्यक्ति एक पाँच वर्ष के लड़के को लेकर बिना किसी सूचना के अन्दर आकर पैरों में गिर पड़ा। बच्चे को भी अमोघ आशीर्वाद प्राप्त कराने के लिए चरण-शरण में डाल दिया। पितामह मालवीयजी ने लपक कर बालक को उठाया और उसके मुँह पर हाथ फेरते हुए प्यार से पुचकारा। वह व्यक्ति बिना किसी हिचकिचाहट के कहने लगा "बाबूजी, वाल्मीकि का मन्दिर अधूरा ही पड़ा है। बिड़लाजी से कह सुन कर पूरा करवा दीजिये!" महामना ने उसे पूर्ण आश्वासन दिया और वह प्रसन्न होकर वहाँ से चला गया।

चौबेजी कुछ सशंकित होकर पूछते हैं "जे कौन हतो महाराज?"

इतना सुनते ही पितामह मुस्कराते हुए बोले, "का करवै पूछ कै चौबेजी?"

"महाराज वाल्मीकिजी कौ मन्दिर कब सें बनन लग्यौ?"

पितामह ने सहज ही विनोद-भरे शब्दों में कहा: "जब सें वाल्मीकि कौ पुत्र समझन लग्यौ।"

"तो कौन हतो महाराज वो?"

"मेहतर था।" मालवीयजी ने उत्तर दिया।

इतना सुनते ही चौबेजी उछलकर खड़े हो गए पूज्य मालवीयजी खिलखिला कर हँसने लगे। चौबेजी दोनों कान पकड़े खड़े कह रहे थे, "बुरौ भयौ, बुरौ भयौ महाराज! कपड़े धोने पड़ेंगे। रात-भर जाड़ा खाऊँगा।" और पूज्य मालवीय जी हँस रहे थे।

—देवदत्त शास्त्री

'मालवीय' नाम का जादू

बात उन दिनों की है जब मैं कालेज में पढ़ता था। एक बार हमारे कालेज के लड़कों का एक दल घूमने के लिए बम्बई, नासिक, पूना इत्यादि गया। उस दल के सभी विद्यार्थी हिन्दू थे, सिवा मेरे। पर यों देखने से मुझे कोई मुसलमान नहीं कह सकता था। बम्बई में एक धर्मशाला में ठहरना निश्चित हुआ। कठिनाई सिर्फ मेरे लिए थी, क्योंकि धर्मशाला में मुसलमानों को ठहरने की इजाज़त नहीं थी। मैंने अपने साथियों से अलग होना ठीक नहीं समझा और उन सब के साथ धर्मशाला में ही ठहरने के लिए चला गया। पूछने पर मैंने अपना नाम केदारनाथ मालवीय बतलाया। इतना सुनते ही धर्मशाले के व्यवस्थापक ने पूछा, आप मालवीयजी के कौन हैं ? मैंने छूटते ही कह दिया कि वह मेरे बाबा लगते हैं। फिर क्या था, जो सबसे बढ़िया कमरा था वह मुझे दिया गया। जहाँ मैं अपने एक साथी के साथ ठहरा। थका हुआ था, जाते ही सो गया। जाड़े के दिन थे। मेरे लिए नहाने का सवाल ही नहीं था, सो निश्चिन्ततापूर्वक सोता रहा। पर थोड़ी ही देर बाद मेरा एक साथी आया और लातें मार कर मुझे जगाते हुए बोला, "उठिये मालवीयजी महाराज, उठिये। आप यहाँ पड़े सो रहे हैं और वहाँ धर्मशाला के व्यवस्थापक महोदय हम लोगों को स्नान-घर में घुसने नहीं देते। कहते हैं कि जब तक मालवीयजी महाराज स्नान नहीं कर लेंगे, मैं किसी को स्नान-घर में जाने न दूँगा।" मेरी तो नानी मर गई। एक तो जाड़े का दिन, दूसरे नंगे बदन नहाना पड़ेगा, और सबसे ऊपर कंधे पर जनेऊ न देखकर व्यवस्थापक महोदय क्या कहेंगे ! पर स्नान किये बिना भी जान छूटने वाली न थी। सो मैंने अपने बगल में सोये हुए साथी से उसका जनेऊ उधार माँगा और रजाई के अन्दर ही अन्दर उसे पहन कर रजाई से बाहर निकला। नहाने गया, तो देखा कि व्यवस्थापक महोदय वहाँ खड़े हुए मेरी राह देख रहे थे। मेरे जाते ही उन्होंने मेरे लिए विशेष रूप से गर्म पानी की जो व्यवस्था की थी, उसे मँगवा दिया और मैंने सुखपूर्वक स्नान किया। स्नान-घर से बाहर निकला

तो देखा व्यवस्थापक महोदय मेरे लिए इन्तजार में खड़े हुए हैं और पूजा-घर चलने के लिए कह रहे हैं। यह दूसरी कड़ी परीक्षा थी। पर करता क्या! अब तो कोई दूसरा रास्ता ही नहीं था। सो उनके साथ पूजा-घर में जाकर बिछे हुए आसन पर बैठ कर आँख-नाक इत्यादि मूँदी और किसी प्रकार संध्या-पूजा समाप्त की। पर उस दिन जैसे विधाता ही मेरा वाम था। संध्या समाप्त होते ही व्यवस्थापक महोदय देव-मन्दिर के गर्भ-गृह में चलकर देवता की पूजा करने का इसरार करने लगे। मालवीयजी के पौत्र से बढ़कर सुयोग्य अधिकारी इस कार्य के लिए उन्हें और कहाँ मिलता? खैर, मजबूरी; मुझे देव-मन्दिर के गर्भ-गृह में जाकर देव-पूजा भी करनी पड़ी। फूल इत्यादि चढ़ाया तथा आँखें मूँदे हुए हाथ जोड़कर कुछ गुनगुना कर मैंने यह पूजा भी समाप्त की। व्यवस्थापकजी से तो जान छूट गई; पर देव-मन्दिर में जाकर पूजा करने की बात को लेकर मेरे साथियों में ही मतभेद हो गया। कुछ हिन्दू साथी कहने लगे कि और सब तो ठीक था, पर यह मन्दिर के गर्भ-गृह के अन्दर जाकर देव-प्रतिमा का एक म्लेच्छ द्वारा पूजन बहुत बुरा हुआ। इसे हम लोग बर्दाश्त नहीं कर सकते। उन्होंने व्यवस्थापक महोदय से सारा भंडा-फोड़ कर देने की धमकी भी दी। हमारे शिक्षक अभिभावक महोदय, जो बाहर गये हुए थे, इतने में ही वापस आ गए। मामला उनके सामने पेश हुआ। अन्त में उन्होंने उन लड़कों को यह कह कर शान्त किया कि यह सब उपद्रव करने की ज़रूरत नहीं, अब मुझे मेरे एक मित्र के यहाँ ले जा रहे हैं और मैं अब धर्मशाला में नहीं रहूँगा, और ऐसा ही हुआ भी। समस्त हिन्दू जाति पर उनके अमिट प्रभाव तथा उसके रहस्य को समझने के लिए यह छोटी-सी घटना एक मिसाल है।

—एम० आर० शेरवानी

आधुनिक युग के पितामह

सन् ४२ का समय था, कांग्रेस प्रतिनिधि-मंडल जमा हुआ था। प्रयाग नगरी में यमुना के पार्श्व में दर्शकों, पत्रकारों तथा प्रतिनिधियों से पंडाल खचाखच भरा हुआ था। राष्ट्र के जीवन-मरण के प्रश्न को लेकर नेतागण ललाट पर चिन्ता की रेखा खींचे बैठे थे। मंच पर भारतीय आकाश के कुछ चुने हुए जाज्वल्यमान नक्षत्र मस्तक पर बल देकर कुछ हल ढूँढ़ निकालने में तन्मय थे। ध्वनि-विस्तारक यंत्र पर केवल बारी-बारी से आने वाले वक्ताओं की वाणी तीक्ष्ण हो रही थी।

ऐसे ही समय में एक शुभ्र वेशधारी, जरा-जीर्ण किन्तु आकृति से अपूर्व ओज की वर्षा करता हुआ तथा नेत्रों में आशीर्वाद का अमृत लेकर अपने अनन्त अनुभव का प्रकाश बिखेरता, एक धीर-गंभीर तथा पवित्र पुरुष, आँख का आधार लेकर, सभा-मंच की सीढ़ियों पर धीरे-धीरे सहारे से चढ़ता हुआ बैठे हुए दर्शकों को दिखायी पड़ा। उसका आना था कि मंच पर के लोग मस्तक नत कर खड़े हो गए और जवाहरलाल तथा राजेन्द्रप्रसाद जैसे लोग लपके उसे सहारा देने। दर्शकों का कुछ और ही हाल था। नेताओं का अनुकरण कर वे उस आगन्तुक पुरुष की, खड़े होकर, खुले हृदय से अभ्यर्थना कर रहे थे, मानो ममता के कोष में आदर को बिठाकर, श्रद्धा की आरती उतार रहे हों। उस महत् पुरुष की ऐसी थी महत्ता और आदरणीयों में ऐसा था उसका आदर। वे कोई और नहीं, महामना मालवीय थे जिनके समक्ष श्रद्धा भी नत थी और शुभ्रता गौरवहीन। वे आधुनिक युग के भीष्म-पितामह थे। उनसे प्रेरणा पा रहा है आज का भारत, उनकी सेवाओं से तृप्त है माँ भारती तथा साधनाओं से उर्वर है भारतीय वातावरण। भारतीय राष्ट्रीयता की शैशवावस्था के वे आचार्य थे। उनकी लगाई उपत्यकाओं में आज वसन्त की बहार है, जिसका सौरभ दिग्-दिगन्त तक व्याप्त

विरोधी भी ईमानदारी का क़ायल

गोलमेज कान्फ्रेंस के समय की बात है। भारतीय सेना के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न सभा के सामने उपस्थित था। अहिंसा के पुजारी इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अधिक कह ही क्या सकते थे! स्वर्गीय डाक्टर सर तेजबहादुर सप्रू ने भारतीय दृष्टिकोण बहुत उत्तमता से पेश किया, किन्तु वह नरमदलीय तो थे ही। अन्त में मालवीयजी को बोलना पड़ा और कहना पड़ा कि "सर तेज ने जो कुछ कहा है मैं उसके बहुत अंश से सहमत हूँ; किन्तु कुछ ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिनपर मेरा उनसे मतभेद है।" और इसके बाद उन्होंने इस प्रश्न पर कांग्रेस के राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बहुत ही विशद तथा सुन्दर रूप से सभा के सामने रक्खा। सभा के अध्यक्ष लार्ड सैन्की भाषण के बीच में प्रश्न पर प्रश्न करते थे और मालवीयजी उनका मुँहतोड़ उत्तर देते जाते थे। भाषण के अन्त में सभापति ने मालवीयजी को धन्यवाद देते हुए कहा था : "पंडित मालवीय जी, आपको अनेक धन्यवाद हैं। मुझे आप इस बात को कहने की आज्ञा देंगे कि मैं आपकी हिन्दुस्तानी सेनाओं की वीरता को भूला नहीं हूँ और मैं आपके व्याख्यान को भी जल्दी नहीं भूलूँगा। मैं यह नहीं कहूँगा कि मैं आपके भाषण के प्रत्येक शब्द से सहमत हूँ। आप मुझसे पहली बार ऐसा करने की आशा नहीं करेंगे, परन्तु मैं आपका बहुत ही आभारी हूँ कि आप इस भाषण को अपने हृदय ही में रखकर भारत वापस नहीं लौट गए। जो बातें आपने कही हैं उनके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ!"

सन् १९१६ का चुनाव-आन्दोलन ज़ोरों पर था। एक ओर मालवीयजी और लाला लाजपतरायजी थे और दूसरी ओर थे पं० मोतीलालजी नेहरू तथा कांग्रेस के अन्य दिग्गज नेतागण। मालवीयजी के विरुद्ध विरोधी दल गन्दे से गन्दा प्रचार कर रहा था। पंडित रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में, सन् १९२६ में कांग्रेस की स्वराज्य पार्टी और नेशनलिस्ट पार्टी के संघर्ष के दिनों में गाँवों में प्रचार भी किया गया था कि मालवीयजी तो राजसी ठाठ से रहते है, राजा-महाराजाओं के प्रीति-पात्र हैं, उन्हें गरीब किसानों के लिए क्या हमदर्दी हो सकती है, इत्यादि। इसी चुनाव के दौरे में मालवीयजी मेरठ भी गये। एक महती सभा में वहाँ उन्हें मानपत्र भेंट किया गया और एक भक्त कवि ने मालवीयजी के विरोधी प्रचार से क्षुब्ध होकर एक कविता पढ़ी

जिसकी कुछ पंक्तियों में नेहरूजी की निन्दा थी। मालवीयजी ने तुरन्त ही कवि महोदय को कविता पढ़ने से रोक कर कहा, "मोतीलालजी अवस्था में मुझसे छः महीने बड़े हैं और मैं उन्हें अपना बड़ा भाई मानता हूँ। वह मुझसे कम देशभक्त नहीं हैं। मेरा उनका मतभेद आज ज़रूर है; किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उनकी निन्दा की जाय और मैं बैठकर सुनूँ। बड़ों की निन्दा करने और सुनने से दोनों को ही पाप होता है। आशा है, आप लोग भविष्य में इसका ध्यान रखेंगे"

स्कूलों और कालेज का बहिष्कार

१९२० की बात है। असहयोग-आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था। प्रयाग की एक सार्वजनिक सभा में मालवीयजी बोल रहे थे :

"सरकारी स्कूल और कालेजों का बहिष्कार करना ठीक नहीं है। यह बड़ा गलत रास्ता है कि हम स्कूलों से अपने बच्चों को उठा लें। स्कूल में बच्चों को भेजने से सरकार को कोई मदद नहीं मिलती; उससे तो हम लोगों को, जनता को, लाभ ही होता है। बच्चे शिक्षा के लिए तड़प रहे हैं। जब देशी या राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थापित हो जायें तभी उनको वह से हटाना चाहिए। स्कूलों के बहिष्कार से उच्च कर्मचारियों पर भी कोई असर नहीं पड़ेगा, क्योंकि वे हमारे बच्चों की शिक्षा की कब परवाह करते हैं!'

इसी समय कोई उनसे पूछ बैठा कि आप गांधीजी का साथ क्यों नहीं देते? मालवीयजी ने तुरन्त उत्तर दिया, "क्योंकि गांधीजी भी मनुष्य ही हैं। उनसे भी भूल हो सकती है। मेरी आत्मा कहती है कि अभी गांधीजी देश को ग़लत मार्ग दिखला रहे हैं। गांधीजी की आज्ञा मानने के बजाय मैं अपनी आत्मा के आदेश का पालन करना श्रेष्ठ समझता हूँ।"

बम्बई में जुलूस का नेतृत्व

एक अगस्त लोकमान्य तिलक की पुण्य-तिथि है। सन् १९३० में बम्बई में इसी पुण्य-तिथि को मनाने के लिए एक जुलूस निकल रहा था। धोबी

तालाब तक जुलूस पहुँचा ही था कि झड़ी लग गई, पर जुलूस का एक आदमी भी रुका नहीं, इधर-उधर भी नहीं हुआ। जुलूस जैसे-जैसे बढ़ता जाता था, भीड़ भी वैसे ही वैसे बढ़ती जाती थी। छाते पास में रहते हुए भी लोग उन्हें नहीं लगा रहे थे। सब से आगे श्रीमती हंसा मेहता के नेतृत्व में महिलाओं का जत्था था। हार्नबी रोड की चौमुहानी पर पुलिस के हथियार-बन्द दस्ते ने जुलूस रोक दिया। थोड़े डंडे भी चले। मालवीयजी ने पुलिस की आज्ञा सुनकर कहा कि "यह आज्ञा सरासर अन्यायपूर्ण है और हम उसे कदापि नहीं मानेंगे।" उन्होंने लोगों से बैठ जाने को कहा और वे वहीं सड़क पर ही बैठ गए। पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट मालवीयजी के पास आये और बोले कि जुलूस आगे नहीं जा सकता। मालवीयजी ने उत्तर दिया, "ठीक है, हम यहीं बैठे रहेंगे।"

पु० सु०—"कब तक ?"

मालवीयजी—"अपने जीवन के अन्तिम दिन तक ! तुम्हीं को अपने देश जाना होगा।"

पु० सु०—"जब मैं पचास वर्ष का हो जाऊँगा, तब यहाँ से जाऊँगा।"

मालवीयजी—"पीछे शत्रु बनकर जाने की अपेक्षा अभी मित्र बने रहकर जाना अधिक अच्छा है।"

पु० सु०—"आप लोग स्त्रियों को आगे रखकर कोई बहादुरी नहीं दिखलाते हैं।"

मालवीयजी—"कायरता तो तुम्हारी है। यदि जुलूस ग़ैरक़ानूनी है तो सब जुलूस वालों को गिरफ्तार क्यों नहीं कर लेते ? और तुम क्या वह दिन भूल गए जब इंगलैंड में महिला-आन्दोलन चला था और तुम पुरुषों ने स्त्रियों पर अत्याचार किये थे ? अन्त में स्त्रियों ने तुम लोगों की जो बुरी गत बनायी थी क्या उसे बिलकुल भूल गए ?"

पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट बिल्कुल झेंप गए और यह कह कर चलते बने कि "मैं तो भारत सरकार की आज्ञा-पालन मात्र कर रहा हूँ।"

शाहनवाज की श्रद्धा

इन पंक्तियों का लेखक जब आजाद हिन्द फ़ौज के आफिसर मेजर जनरल शाहनवाज़ खाँ के काशी-आगमन पर उन्हें मालवीयजी से मिलाने के लिए कमरे में प्रविष्ट हुआ तो देखता है कि मालवीयजी शाहनवाज़ को स्पर्श कर, आँखों से अश्रु ढार रहे हैं। वे बड़ी ही विनम्रता से सुभाषबाबू के सम्बन्ध में पूछ रहे थे और शाहनवाज खाँ एक आज्ञाकारी बालक की तरह उनके महान् व्यक्तित्व से दबे जा रहे थे। यही नहीं, अपने मिलने-जुलने वालों से शरीर और वाणी अशक्त हो जाने पर भी, वे भावों के संकेतों द्वारा बराबर देश और दुनिया के सम्बन्ध में पूछा करते थे। मालवीयजी की सहृदयता का आनन्द आबाल-वृद्ध सभी लेते थे।

उनका परिवार बड़ा भारी था। जवाहरलालजी उन्हें पितृ-तुल्य मानते थे तो गांधीजी बड़े भइया कहा करते थे। गांधीजी और मालवीयजी का आपस का सम्बन्ध बड़ा ही स्नेहपूर्ण था। मरते समय गांधीजी के अनशन के समाचार से मालवीयजी व्याकुल हो उठे थे। गांधी-जवाहर का तो मानो वे जप कर रहे थे।

—गंगाशंकर दीक्षित

गूँगी गिरा न कर सकती है,
गिरि की गरिमा का गुण गान !

"अध्यात्मनिष्ठ महात्माओं से मालवीयजी का प्रायः सम्पर्क रहा करता था। हेमष्टाश्रमजी और अवधूतजी उनके हार्दिक मित्र थे। पंडितजी का तीन साल से विद्वत्म सन्यास का जीवन चल रहा था। उनकी यह भी इच्छा थी कि अन्तिम समय में विधिवत् सन्यास धारण किया जाय। जिस समय विश्वनाथजी का मन्दिर बन जाय और उसकी प्राण-प्रतिष्ठा कर लूँ तो उसी समय सन्यास भी ले लूँ। जब तक कर्म करना शेष है तब तक विद्वत्म सन्यास ही पर्याप्त है। किन्तु हिन्दू जाति के जीवन, नोआखाली में जो दुर्घटना घटी और वहाँ की अबला स्त्रियों के साथ जो घोर अत्याचार और पैशाचिक व्यवहार हुआ, उसकी खबरें पाकर उस दुःख को सहन न कर सके। उन्होंने अपने प्राण-पखेरू शिव के चरणों में अर्पण कर उनसे रक्षा की भीख माँगी।

पंडितजी के जीवन का वर्णन कोई दूसरा व्यास का ही अवतार हो तो वही लिख सकता है। उनके जीवन का एक-एक पल चमत्कारमय तथा देश, जाति और धर्म की सेवा के लिए अर्पित था।

—**हरिदत्त शास्त्री**

मंत्रदाता मालवीयजी

सिर पर गठरी रक्खे हुए किसान काशीजी में सदा की भाँति अब भी आते रहेंगे, पर विश्वनाथजी के दर्शनों के बाद, दशाश्वमेध घाट पर, वहाँ वे दूसरे 'महाराज' के दर्शनों के लिए उमड़ पड़ते थे जो 'ॐ नमः शिवाय' मंत्र द्वारा सैकड़ों अछूतों को मंत्र-दीक्षा दिया करता था, जो सायंकाल वेदों और पुराणों के उदाहरण द्वारा समझा-समझा कर कहता था : भगवान् ने भिल्लिनी का जूठा बेर खाया ; गणिका, गीध, अजामिल को तारा। जिसके कहे गए वाक्यों के पूर्व ही मन कहने लगता कि यही तो मैं भी कहने वाला था, और जिसके व्याख्यान के प्रत्येक वाक्य को सभी श्रोता मस्तक हिला-हिला कर स्वीकार करते हुए मंत्र-मुग्ध की भाँति सुना करते थे, जो कहता इस पुण्यभूमि में जहाँ देवता भी जन्म लेने के लिए तरसते हैं, मुक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा जन्म लेना कहीं अच्छा है। उसे अब भला हम क्या देख पावेंगे ! तिलक के बाद हिन्दुस्तान में यह दूसरे 'भवभूति' की क्षति है।

व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए बेचैनी

१६ फरवरी, १९४० तारीख थी। वसन्त का सुप्रभात था। विस्तृत विश्वविद्यालय की गोद में अरुणोदय हो चुका था। सूर्य की खेलती किरणों के साथ महामना के प्रासाद-कलश नाच रहे थे। गांधीजी का मन्त्र—'इस लड़ाई में अंग्रेज की पैसों या आदमी से मदद करना हराम है', गाँव-गाँव, मुहल्ले-मुहल्ले, या यों कहिये, घर-घर रटा जाने लगा था। मन्त्र में विश्वास और श्रद्धा से मन भर गया। मैंने कहा, यज्ञ में आहुति देने के पूर्व महर्षि का आशीर्वाद चाहिए।

महामना उन दिनों अस्वस्थ थे। कविराज पं० सत्यनारायण जी शास्त्री की चिकित्सा हो रही थी। उन्हीं के साथ मैं भी उन्हें देखने नहीं, आशीर्वाद लेने चल पड़ा। सेवक ने कहा, 'बाबूजी पूजा करत हैं। उठे वाला हयन।' पूजा करते

हैं, इस बीमारी और वृद्धावस्था में। वाह रे संयम, वाह रे नियम! अब भी महर्षि शून्य देश नहीं है। श्रद्धा से मन भर आया। कमरे का पट खुला। उनकी कान्ति से प्रतिबिम्बित आभा कमरे में दमक उठी। सूर्य के तेज के समान उन का वह तपा हुआ तेज मन में समा गया। हम लोग उठकर खड़े हो गए, महाराज ने आने के लिए संकेत किया। भीतर चौकी पर कुशासन और श्वेत आसन पर विराजमान देव के चरणों में सिर रख कर हमने बारी-बारी से आशीर्वाद लिया। बैठने के लिए पड़े हुए आसनों पर हम लोग भी बैठ गए।

कविराज ने नाड़ी देखी। "अस्वस्थ हूँ ?" मुसकराते हुए पूछे गए इस प्रश्न से हमें कितना सुख मिला, कैसे कहा जाय! स्वास्थ्य-परीक्षा के बाद महामना ने मेरी ओर संकेत किया। "पं० मथुराप्रसादजी मिश्र के प्रपौत्र हैं"—कविराजजी ने कहा।

"दशाश्वमेध वाले मास्टरसाहब के ?"

"जी हाँ," कविराजजी ने उत्तर दिया।

"यू० पी० में सर्वप्रथम क्वीन्स कालेज में मिश्रजी को ही उस समय हिन्दुस्तानी होने पर भी प्रिंसिपल की जगह मिली थी। पर सभी मास्टर साहब के नाम से ही उनसे परिचित थे। क्या सुन्दर अंग्रेज़ी बोलते थे! मालूम पड़ता था कि कोई अंग्रेज़ ही बोल रहा है। उतना सम्मान, इतनी बड़ी पोस्ट और तनख्वाह पाकर भी इतनी सादगी देखने में कम मिली है।" मालवीयजी कहते गए, "बड़े सात्त्विक और आस्तिक थे। मैं बहुत बार उनसे मिला। उनकी कई घटनाएँ याद हैं। उनकी बनायी 'डिक्शनरी' है न। आज तक ऐसा अंग्रेज़ी का कोष फिर न निकला। उसे पुनः छपवाओ!" मैं मूक सब-कुछ सुनता रहा। पुनः पूछा, "कहाँ पढ़ते हो ?"

"काशी विद्यापीठ में," मैं धीरे से बोला।

"अच्छा-अच्छा! सन्ध्योपासना करते हो न ?"

मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए पूछे जाने वाले इस प्रश्न पर केवल "जी हाँ" कह दिया।

"हाँ, यह तुम्हारी घर की विशेषता है, इसे छोड़ना मत ! सादगी, पवित्रता और कर्मनिष्ठा यह तुम्हारी पैतृक सम्पत्ति है।" वे कहते रहे।

बीच ही में कविराजजी ने कहा, "व्यक्तिगत सत्याग्रह करने जा रहे हैं। आप से आशीर्वाद लेने आये हैं।"

"हाँ, तुम भी सम्मिलित होने जा रहे हो ? बड़ा अच्छा है। ज़रूर करो, मेरा आशीर्वाद है, मंगल हो ! मैं भी तो सत्याग्रह करने वाला था, पर अस्वस्थता के कारण गांधीजो ने स्वीकार नहीं किया। लाचारी है।" कह कर मालवीयजी मुस्करा उठे।

भारत के उस देव, उस महर्षि के हृदय से निकला हुआ आशीर्वाद पाना, मेरे-जैसे युवक की अभिलाषा इससे अधिक क्या पा सकती है !

—दुर्गाप्रसाद मिश्र, काशी

विश्वनाथ के अनन्य भक्त

पूज्य मालवीयजी एक महान् पुरुष थे। वे विश्वनाथजी के अनन्य भक्त थे। सौभाग्य से मुझे भी उनसे मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था। यों तो वे विशेष पर्वों पर विश्वनाथ का दर्शन करने आया करते थे। जब वे मन्दिर में आते, तब ध्यानपूर्वक वहाँ की व्यवस्थाओं का निरीक्षण करते और उचित सलाह देते थे। विश्वनाथ गली बनने की तो उन्हें बहुत दिनों से चिन्ता थी। वे भारत को भारत के रूप में चाहते थे। सनातन धर्म के तो वे कर्णधार थे। आज इस भौतिक संसार से चले गए, किन्तु सत्य बात यह है कि वे प्रत्येक भारतीय के हृदय में अमर हैं।

—विश्वनाथ त्रिपाठी
विश्वनाथ-मन्दिर, काशी

विलायत के मार्ग में

पंडितजी के लिए चूल्हा अलग बन गया है। गंगा-जल भी साथ है। मिट्टी का कनस्तर, स्वदेशी साबुन, दाँतुनों का बड़ा-सा बंडल। उधर गांधीजी का चर्खा, पींजन—बड़ी-बड़ी विचित्र चीजें साथ चल रही हैं। जहाज वाले भी देखते हैं कि यह शिवजी की बरात अच्छी आयी। आते-जाते तिरछी नज़र डाल जाते हैं, पर ऊपर से पूरा अदब दिखाते हैं।

आज तीसरा दिन है, पर पंडितजी की प्रायः एकादशी ही चलती है। बात यह है कि पंडितजी का रसोइया बीमार है और आटे-सीधे के बक्स का कहीं पता नहीं। पंडितजी से लाख प्रार्थना की कि महाराज बोट का चावल-आटा लेना बुरी बात नहीं है; किन्तु पंडितजी कहते हैं कि भूख लगेगी तब ले लेंगे। अभी भूख नहीं लगी है; तबीयत सुधर रही है। परसों और कल तो थोड़ा-थोड़ा दूध ही लिया।······पंडितजी खुद तो खाते नहीं, अपने रसोइये से कहते हैं—बैजनाथ, थोड़ा खा लो। बैजनाथ क्या खाये ? पेटी तो ब्रह्मलोक चली गई, जहाज़ का सामान अभी तक पंडितजी ने लेना स्वीकार नहीं किया। पर आज पंडितजी को मना लिया है।······पंडितजी में प्रेम और आशावाद की कमी नहीं। पेटी ग़ायब हो गई, सारा जहाज़ छान डाला किन्तु पंडितजी अब भी कहते हैं कि पेटी ज़रूर मिलेगी, ग़ायब कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर मैं क्या दूँ !

विषादप्यमृतं ग्राह्यम्

पंडितजी की रसोई बनने लगी है—जहाज़ के सामान से ही, पंडितजी कहते थे कि जहाज़ क़ैदखाना है। देखो, कैसी लीला है—हम पैसे भी देते हैं और क़ैद में भी रहते हैं ! कल बेचैन होकर कहने लगे—

सीतापति रघुनाथ जी, तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाज़ को, सूझत और न ठौर॥

पंडितजी के लिए यहाँ (अदन) से आटा-सीधा और दो घड़े पानी के ले लिये गए हैं। हम लोगों ने मजाक किया कि पंडितजी के गंगाजल के घड़े अब अरब के पानी से भरे जाँयगे, और अरब का पानी पीकर पंडितजी को शौक़तअली का साथ देना होगा। किन्तु पंडितजी कहते हैं कि पानी का विष सुबह-शाम की संध्या से धो डालूँगा।

पंडितजी के विषय में यहाँ छपा है कि पंडितजी कीचड़ की एक मटकी लाये हैं और रोज़ कीचड़ का एक बुत बनाकर पूजा करते हैं। पीने का पानी गंगा का आता रहेगा, जिसका कुल खर्च १५००० रुपये बैठेगा जो उनके एक धनी मित्र ने दिया है।

गिरजा में प्रार्थना

आज रविवार को जहाज के गिरजे में में प्रार्थना थी। कप्तान ने महात्माजी को न्यौता दिया था। पंडितजी और हम भी गये थे। भजन, ध्यान, गुणगान होता रहा। पंडितजी का हाथ में बाइबिल लेकर ईसाइयों के साथ ध्यानावस्थित होना विशेषतापूर्ण था। पंडितजी को जो कोई लकीर का फकीर बताता है, वह मूर्ख है। पंडितजी अरब का पानी पी सकते हैं, गिरजे में प्रार्थना कर सकते हैं, फिर भी परम सनातनी हैं; क्योंकि उनके हृदय में ईश्वर विराजमान है। जो हो, पंडितजी का बाइबिल हाथ में लिये हुए ध्यानमग्न होना, यह दर्शन दुर्लभ है।

—घनश्यामदास बिड़ला

न मोक्षास्याकांक्षा भव-विभव-कांक्षापि च न मे···

मालवीयजी के स्वर्गवास के कुछ ही दिनों पहले की बात है। मैं उनके दर्शनों को गया हुआ था। चलते समय उन्होंने मुझ से कहा—देखो, एक बात मेरी याद रखना तुम। यदि मुझे होश न रहे और लोग अन्तिम समय में यहाँ (विश्वविद्यालय के क्षेत्र) से मुझे काशी-क्षेत्र में ले जाना चाहें, तो तुम मत ले जाने देना। मना कर देना। काशी-क्षेत्र में मरने से मोक्ष हो जाता है। मुझे अभी फिर यहीं जन्म लेकर बहुत-से अपने अधूरे कामों को पूरा करना है। विश्वनाथजी का मन्दिर तो अभी बना ही नहीं है।

—ज्योतिभूषण गुप्ता

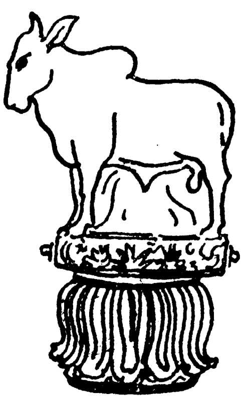

समाज के हित में नरक भी स्वीकार

मालवीयजी महाराज ने हरिजनोद्धार के उद्देश्य से हरिजनों को मंत्र-दीक्षा के सम्बन्ध में काशी तथा देश के अन्य भागों से प्रकाण्ड पंडितों को निमंत्रित कर एक सभा आयोजित की। यह सभा वहाँ के ओरियण्टल कालेज हाल में हुई थी। सभा की कार्यवाही आरम्भ करते हुए पुनीत वेषभूषा तथा सात्त्विक मन से विनम्र वाणी द्वारा विद्वानों को सम्बोधित कर मालवीयजी ने उनसे धार्मिक व्यवस्था देने की प्रार्थना की कि जिससे हमारे हरिजन भाई भी हिन्दू धर्म के अंग बने रहें और स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भी उनका सहयोग मिले। युग-धर्म को पहचानते हुए इस विषय में आप लोग उचित मार्ग-दर्शन करें। सारी सभा में स्तब्धता छा गई। जहाँ महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण जैसे महान् विद्वानों ने मालवीयजी का समर्थन किया, वहीं कुछ कट्टर सनातनी विद्वानों ने कड़ा विरोध भी किया। विरोध की सीमा पार कर उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि इस कार्य से आपको नरकगामी होना पड़ेगा। मालवीयजी ने हँसते हुए उत्तर में कहा था—"यदि हिन्दू धर्म की एकता के लिए मुझे एक बार नहीं, हज़ार बार भी नरक जाना पड़ेगा तो मैं वहाँ के कष्टों को सहर्ष भोग लूँगा। इस समय तो आप लोग हमारा समर्थन कर दीजिये।" मालवीयजी का यही उत्साह उनके अनुयायियों को आज भी प्रेरणा दे रहा है।

आदर्श कुलपति

मालवीयजी जब गोलमेज़ सम्मेलन के सिलसिले में लंदन गये थे, तब वाराणसी में जनता पर पुलिस ने गोली चलायी थी। मालवीयजी जब विलायत से वापस आये तो विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था—"यह कैसे हुआ कि बनारस की जनता पर गोलियाँ चलती रहीं और विश्वविद्यालय के छात्र मुर्दा चमड़े की धौंकनी के समान साँस

लेते हुए होस्टलों में पड़े रहे ? मुझे प्रसन्नता होती यदि कुछ छात्र इस अवसर पर शहीद हो गए होते।"

विश्वविद्यालय के शिलान्यास-दिवस पर प्रतिवर्ष होने वाले समारोह में भारत के विभिन्न प्रान्तों के छात्र अपनी-अपनी विशिष्ट वेषभूषा में खड़े होते और एक-एक छात्र आकर मालवीयजी के चरणों को स्पर्श करता। मालवीयजी प्रत्येक छात्र से कम से कम एक प्रश्न अवश्य करते। इस प्रकार विद्यार्थियों के प्रति उनके स्नेह का परिचय पग-पग पर मिलता था। वे पिता की भाँति प्रत्येक छात्र के कमरे में जाकर उसके स्वास्थ्य का निरीक्षण करते। यदि कोई छात्र निर्बल हुआ, उसकी मांसपेशियाँ क्षीण और शिथिल दिखायी देतीं तो न केवल उसकी परिस्थितियों के बारे में पूछकर उसको पौष्टिक भोजन, सदाचरण एवं व्यायाम का उपदेश देते, वरन् यदि उसकी आर्थिक स्थिति ठीक न होती तो उसकी सहायता की व्यवस्था करते और तत्काल वार्डन को बुलाकर तदनुकूल निर्देश देते। छात्र-छात्राओं की सभा में वे कहते थे, "देखो, अपना ऐसा आचरण रक्खो कि माता की सफ़ेद चादर में कोई धब्बा न लगे।" एक बार किसी छात्र ने एक फूल छात्राओं के बीच फेंक दिया। मालवीयजी ने तुरन्त कहा कि "यदि उस लड़के में साहस हो तो स्वयं सामने आ जाये, अन्यथा वह कायर है।" छात्र आया और उसने अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की। कुलपति के सच्चे रूप का दर्शन हमें मालवीयजी में होता है।

मसजिद का पुनर्निमाण

गोलमेज कान्फ्रेंस से लौटते हुए मालवीयजी मार्ग ही में थे कि समस्त भारत के साथ बनारस में भी विदेशी सत्ता के गुर्गों द्वारा साम्प्रदायिक कलह करा दिया गया। काशी-विश्वविद्यालय के पास नहिदा ग्राम की कोई मसजिद तोड़ डाली गई। यह कलंक विश्वविद्यालय के छात्रों पर मढ़ा जाने लगा। काशी आने पर जब यह बात मालवीयजी को मालूम हुई तो उन्होंने विश्व-विद्यालय के इञ्जीनियर को बुलाकर तुरन्त मसजिद के गिरे हुए भाग को बनवा देने की आज्ञा दी। इस तरह विश्वविद्यालय की ओर से मस्जिद का पुनर्निर्माण किया गया।

मौलाना के घर भागवत का पाठ

असहयोग-आन्दोलन की विफलता के बाद १९२१ में दिल्ली में मौलाना मुहम्मदअली के घर में महात्माजी ने २१ दिन का उपवास किया था। उस समय मालवीयजी ने वहीं उन्हें श्रीमद्भागवत का साप्ताहिक पारायण सुनाया था। सारा देश इस समाचार पर चकित था। यह एक नवीन बात थी कि एक मुसलमान के घर पर सात दिनों तक श्रीमद्भागवत का पाठ हो और वह भी मालवीय जी द्वारा! पर यह हुआ।

—गिरिजाशंकर अवस्थी

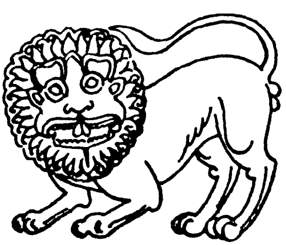

महामना की ममता

कुछ पुरानी बात है। मैं उस समय बम्बई में रहता था। अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन था। लोकमान्य तिलक अध्यक्ष थे। मैं अपने एक तरुण मित्र के साथ बम्बई से अमृतसर पहुँचा। दिसम्बर का अन्त था। उस साल कुछ ही दिनों पहले अमृतसर में भयानक वर्षा हुई थी। पंजाब की सर्दी प्रसिद्ध है और इस वर्षा के कारण वहाँ सर्दी बहुत ही बढ़ी हुई थी। हम लोगों ने बम्बई में सर्दी देखी नहीं थी, इससे साधारण कपड़े ले गए थे। दोनों के पास ओढ़ने-बिछाने के लिए एक-एक चद्दर और एक-एक हल्का-सा कम्बल था।

अमृतसर में हम लोग महामना मालवीयजी के डेरे पर जाकर ठहरे। महामना का मुझ पर बड़ा स्नेह था। एक बड़ी धर्मशाला में वे ठहराये गए थे। शायद महात्मा गांधी भी उसी में ठहरे थे। रात को हम लोग दोनों दो चारपाइयों पर सो गए। शरीर ठिठुर रहा था। छाती में पैर दिये पड़े थे। कम्बल से मुँह ढक रक्खा था, पर बदन काँप रहा था। रात को ९ बजे होंगे, महामना मालवीयजी सबको सँभालते हुए हम लोगों की चारपाइयों के पास आये। मुँह ढके सिकुड़े सोये देखकर उन्होंने पूछा—"कौन हो? कहाँ से आये हो? खाया कि नहीं?" मैंने मुख पर से कपड़ा हटाया। तुरन्त उठकर खड़ा हो गया—चरण-स्पर्श किया। मेरे साथी ने भी उठकर चरण-स्पर्श किया। हम लोग काँप रहे थे। उन्होंने मुझे पहचान कर पूछा—"कपड़े कहाँ हैं?" मैंने कहा—"बिछा-ओढ़ रक्खे हैं न?" वे बोले—"बस, यही कपड़े हैं? तुम्हें पता नहीं था क्या, यहाँ कितने कड़ाके का जाड़ा पड़ता है? अमृतसर को बम्बई समझ लिया?" यह कहते-कहते ही उन्होंने उनके साथ आये हुए एक पंजाबी सज्जन से कहा—"जल्दी आठ कम्बल लाइये।" फिर पूछा, "खाया कि नहीं?" मैंने कहा, "खा लिया।" फिर बोले—"देखो, तुमने बड़ी गलती की जो मुझसे कहा नहीं; यह तो मैं आ गया, नहीं तो तुम लोगों को रात को बड़ा कष्ट होता और पता नहीं इसका क्या नतीजा होता! क्यों इतना संकोच किया?" मैं

क्या उत्तर देता ! इतने में दो-तीन आदमी आठ मोटे कम्बल ले आये। दो-दो कम्बल हमारी चारपाइयों पर बिछा दिये गए और दो-दो उढ़ा दिये। गरम चाय मँगवाकर दोनों को पिलायी। जब तक हम लोग चाय पीकर सो न गए, तब तक वे वहीं एक कुरसी पर बैठे रहे। हम लोग उनके जाने पर ही सोना चाहते थे; पर उन्होंने कहा—"तुम लोग ओढ़ कर सो नहीं जाओगे, तब तक मैं नहीं जाऊँगा।" इसलिए हमें सोना पड़ा। उन्होंने हम लोगों को ही नहीं, वहाँ ठहरे हुए सबको सँभाला, देखा और सबकी आवश्यकताएँ पूरी कीं। उनकी यह ममता देखकर हम लोग दंग रह गए।

—एक कृतज्ञ

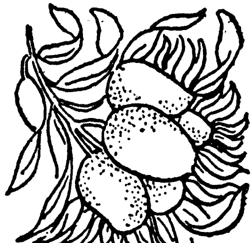

क्रोध का उपचार

"कोनु सस्यादुपायोऽत्र येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा ॥"

विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों ने एक गंगापुत्र की नौका को क्षति पहुँचा दी। गंगापुत्र आगबबूला हो उठा। महामनाजी को, छात्रों को, विश्वविद्यालय को अनथक गालियाँ देता हुआ वह विश्वविद्यालय में महामना के निवास-स्थान की ओर चल पड़ा। रास्ते में जो कोई भी गंगापुत्र की गालियाँ सुनता, क्षुब्ध हो उठता; किन्तु महामना के कठोर अनुशासन के कारण किसी ने भी उससे कुछ कहा नहीं। महामना के स्थान पर जब वह पहुँचा तो दैवयोग से उस समय वहाँ महत्त्वपूर्ण विषय पर एक सभा चल रही थी। गंगापुत्र चिल्ला-चिल्ला कर निरन्तर धाराप्रवाह गालियाँ बकता रहा, पर महामना तनिक भी विक्षुब्ध नहीं हुए केवल उनके नयनों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उन्होंने गंगापुत्र के चरण स्पर्श करते हुए कहा—"भाई, लगता है मुझसे तुम्हारा कोई भारी अपराध वन पड़ा है! क्षमा करो मुझे! क्या मैं जान सकता हूँ कि मेरा अपराध क्या है?" गंगापुत्र इस मधुर वाणी को सुनकर पानी-पानी हो गया। उसके मुँह से शब्द निकलने ही मुश्किल हो गए। बड़ी कठिनायी से वह सारी घटना बतला सका। सुनते ही महामना कह उठे—"भगवन्! वास्तव में तुम्हारी बड़ी क्षति हुई। ये छात्र तुम्हारे ही पुत्र हैं। उन्हें क्षमा कर दो! तुम्हारी नौका को सुधरवा दिया जायेगा।" गंगापुत्र आया था गालियाँ देते हुए, गया आशीर्वाद की अजस्र धारा बहाते हुए।

'ददाति प्रतिगृह्णाति'

८४ वर्ष की अवस्था में महामनाजी अपनी खटिया पर लेटे हुए एक मित्र को पत्र लिखवा रहे थे। सहसा आवाज़ आयी—च्यवनाश्रम से। च्यवनाश्रम

एक स्थान का नाम है जहाँ पर गोशाला बनी है। महामनाजी ने कहा—"देखो, बाहर कौन है? कोई च्यवनाश्रम से आया है। बुलाओ उसे!" च्यवनाश्रम से आने वालों में एक छोटेलाल नाम का गोरक्षक तथा श्री यज्ञनारायणजी उपाध्याय एम० एल० ए० थे। उनकी बातचीत से पता चला कि गायें भूसे के बिना भूखी मर रही हैं। कहीं से कोई प्रबन्ध नहीं हो रहा है। महामना ने दो-तीन जगह फोन करवाया; पर जब शीघ्र किसी प्रकार प्रबन्ध की आशा न दिखायी दी तो महामनाजी ने अपने मूड़ी नामक सेवक को बुलवाया और कहा—"वे रुपये लाओ जो अभी गोविन्द (मालवीय जी के सबसे छोटे पुत्र) ने दिये हैं।" अशिक्षित किन्तु अनन्य सेवक मूड़ी ने पूछा—"काहे जरूरत है?"

"चारे के लिए। गैया भूखी मर रहीं।" महामनाजी ने उत्तर दिया।

मूड़ी ने कहा—"ऊ रुपया भैयाजी फल का और खद्दर-भंडार का कपड़ा का दिहिन हैं।" महामनाजी ने तुरन्त कहा—"न हम फल खाइब और न कपड़ा पहनब। तू रुपया दे दे!" मूड़ी मेरी तरफ देखकर कहता गया—"कितने दिन से फल नहीं ले रहे हैं। कुरता फट गई है। आज भैयाजी से रुपया लिया है तो वह भी दिला दे रहे हैं।"

महामनाजी ने इतना सुनते ही एक डाँट दी और वह सब रुपया उनके सामने रखकर चला गया। महामनाजी ने अपने हाथ से रुपये उठाये और उनमें से १०१) रुपये उस छोटेलाल गोरक्षक को दे दिये। मैं अवाक् रह गया। मन ही मन सोचने लगा, महामना! यदि आप-जैसा हृदय इन देश के धनियों के पास होता तो आज भारत की यह दुर्दशा न होती।

—अम्बादत्त भट्ट, साहित्याचार्य

'मूक होहिं वाचाल'

मूक व्यक्ति भी महामना का आश्रय पाकर वाचाल हो उठता था। जो एक शब्द भी शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता था वह पंडित बन जाता था। वे इस बात के लिए सदा सजग रहते थे कि कोई अशुद्ध उच्चारण न करने पाये। यौवन में नहीं, बुढ़ापे में नहीं, मृत्यु-शैया पर अन्तिम ऊर्ध्व श्वास से विकल हो, उनके तृतीय पुत्र श्री मुकुन्दजी मालवीय आसन्न काल समझकर उन्हें उनके प्रिय धार्मिक श्लोक सुनाने लगे। दुःख से कातर होने के कारण श्री मुकुन्दजी के मुख से "नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापं प्रणानशनम्" यह पाठ निकला। तत्काल पूरी शक्ति से अपने श्वाँस को रोक कर बड़े कष्ट की ध्वनि के साथ महामनाजी ने कहा—" 'सर्वपापं प्रणानशनम्' नहीं, 'सर्वपापं प्रणाशनम्' !" यह सुनकर सभी उपस्थित जनों को रुलाई आ गई।

भिक्षुक

मरि जाऊँ माँगू नहीं, अपने हित के काज।
पर कारज हित माँगिबे, मोहि न आवत लाज ॥

एक दिन एक यात्री महोदय विश्वविद्यालय देखकर उसके जनक महामना मालवीयजी के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। "अशिक्षित जनता को शिक्षित बनाकर ही देश का कल्याण होगा, यही सोचकर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है।" —कहते हुए उन्होंने पूछा—

"कहिये, कहाँ से आये ?"

"हैदरावाद से।"

"विश्वविद्यालय देखा ?"

"जी हाँ।"

"पसन्द आया ?"

"महाराज ! क्या कहना है ! स्वर्ग है स्वर्ग !"

"कुछ सहायता दीजियेगा ?"

"अवश्य; जो आज्ञा हो !"

"क्या काम करते हैं ?"

"मिल में नौकर हूँ।"

"मासिक वेतन क्या है ?"

"एक हज़ार रुपया।"

"एक मास का पारिश्रमिक दे दीजियेगा ?"

आगन्तुक ने ५००) देकर प्रार्थना की—"शेष घर जाकर भेज दूँगा।"

"बहुत अच्छा ! भक्ति-श्रद्धा से एक ही पैसा बहुत है। विश्वविद्यालय का अभी तिहाई हिस्सा भी नहीं बना, ५ करोड़ रुपयों की आवश्यकता है। अब बुढ़ापे के कारण कमज़ोर हो गया हूँ। आप लोगों तक पहुँच नहीं पाता। पड़े-पड़े हाथ फैलाया करता हूँ।"

और अन्त समय तक इसी तरह पड़े-पड़े भी महामनाजी विश्वविद्यालय के लिए चन्दा माँगते रहे। वास्तव में वे भिक्षुक-सम्राट् थे।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः

एक दिन की बात है—महामनाजी ने मुझ से पूछा—"तुम अँग्रेजी भी जानते हो ?"

"थोड़ी-थोड़ी।"

"अख़बार पढ़ लेते हो ?"

"मिला-मिला कर।"

"लाओ अँग्रेजी का अख़बार !"

मैं भीतर से पत्रिका उठा लाया। सम्पादकीय टिप्पणी पढ़ने लगा। अपना कौशल दिखाता हुआ मैं यथामति लगातार पढ़ता गया, लेकिन एक जगह पोल खुल गई। लिखा था E. G.। मैं ई. जी. ही पढ़ गया। दो तीन लाइनें पढ़ने के बाद महामनाजी ने फिर दुहराने को कहा। मेरे ई. जी. पर पहुँचते ही कहने लगे—"जानते हो, ई. जी. का क्या अर्थ है ?" मैंने कहा, "नहीं।"

"फ़ॉर ऐक्ज़ाम्पिल ! अच्छा, आगे चलो !"

मैं पढ़ता गया, वे कठिन शब्दों को पूछते गए। मायने बतलाते जाते थे। मैं मन्द-बुद्धि, कभी स्कूल का मुँह न देखा हुआ। उच्चारण तक साफ न कर पाता था। तब वे मेरी ग्लानि को समझ कर कि मैं उनको परेशान कर रहा हूँ, यह ख्याल न हो जाय, अपने बचन की याद दिला कर प्रोत्साहन देते थे। एक दिन अखबार सुनाते हुए मुझे श्री मुकुन्दजी ने देख लिया। बाबूजी को मानसिक परिश्रम करना पड़ता है—इस विचार से उन्होंने महामनाजी के भूत-पूर्व प्राइवेट सैक्रेटरी पन्तजी द्वारा मुझे समाचार-पत्र न पढ़ने का आदेश दिया। दूसरे दिन मैं उक्त कार्य के लिए निर्धारित समय पर जान-बूझ कर नहीं गया। सायंकाल बाबूजी ने पूछा—"आज कहाँ गए थे ?"

"कहीं नहीं बाबूजी, ऐसे ही देर हो गई।" मैंने कहा। बोले—"जाओ, पत्रिका ले आओ, आज अखबार नहीं सुना।" अपनी अयोग्यता पर क्रोध, उनके आदेश का उल्लंघन हो रहा है इसका दुःख—दोनों को ही व्यक्त करता हुआ कह बैठा—

"बाबूजी, मैं अब अँग्रेजी अखबार नहीं पढ़ूँगा।"

"क्यों ?"

'मुझे पढ़ना नहीं आता। आप पूछते हैं, मानसिक ज़ोर पड़ता है, इसलिए राज भैया ने बिलकुल ही मना कर दिया है, ताकि आपके स्वास्थ्य पर धक्का न पहुँचे।"

"बकने दो उसको फिज़ूल। जाओ, अभी ले आओ अखबार ! गर्भ से ही शिक्षित कोई नहीं निकलता। उसे क्या मालूम कि मेरे स्वास्थ्य को कैसे धक्का पहुँचता है !" उस दिन मैं गीता के 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः सम-दर्शिनः' का अर्थ समझ गया।

शुचिता की मूर्ति

महामना मालवीयजी बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि पर विश्वास रखते थे। दोनों की शुद्धि के लिए खान-पान की भी शुद्धि आवश्यक है, यह भले ही बहुधा लोग स्वीकार न करें, किन्तु इसे मालवीयजी मानते ही न थे, सदैव अपने नित्य के जीवन में इसका पालन भी करते थे। कुछ भी और कहीं भी

खा लेना अथवा पी लेना, अर्थात् भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रखना, उनका सिद्धान्त नहीं था।

प्रातःकालीन संध्योपासना के उपरान्त मिश्री और गोदुग्ध तथा कोई फल, मध्याह्न के भोजनोपरान्त गाय का मट्ठा और अपराह्न में कुछ फल तथा रात्रि में गौ के दूध का पंडितजी सेवन करते थे। दूध तथा मट्ठा केवल गाय का ही रहना आवश्यक था। अन्न में दो-तीन हल्के फुलके और थोड़ा-सा बारीक चावल का भात तथा मूँग की दाल, तरकारियों में परवल, लौकी, नेनुआ, भिंडी, पालक जैसे सुपाच्य पदार्थ उनके भोजन के अंग थे। घी के स्थान में गाय के मक्खन का ही प्रयोग वे सदा करते थे। लशुन और प्याज़ का तो कभी नाम नहीं सुनायी पड़ता था, मिर्च अथवा मसाला भी उनके सेवन के पदार्थ नहीं थे। चाय अथवा क़हवा वह कभी नहीं पीते थे और न किसी प्रकार के मादक द्रव्य का स्वप्न में भी नाम लेते थे। पान तक भी खाते उन्हें नहीं देखा गया। भोजनोत्तर सुपारी की थोड़ी-सी डली प्रायः मुख में डाल लिया करते थे। खान-पान के विषय में इतने संयत पुरुष के सम्बन्ध में यदि यह कहें कि उनमें किसी प्रकार का व्यसन भी था तो कितना अनावश्यक है, यह स्पष्ट ही है। हाँ, उनमें यदि कोई व्यसन था तो यह कि वह किसी को निराश नहीं करते थे और किसी के दुःख पर शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाते थे। भोजन करने का समय बीत रहा है, अतिकाल हो गया है, किन्तु साधारण से साधारण स्थिति का कोई अपना दुःख लेकर आ गया है। आज्ञा होती है, "बुला लो !" ......किसी बड़ी सभा में जाने का समय आसन्न है। अथवा बाहर यात्रा के लिए ट्रेन पकड़नी है, पर कोई स्वार्थी आ जाता है। भले ही ट्रेन छूट जाय, पर जो अपना स्वार्थ सुनाने आया है, उसकी बात बिना सुने आगे कैसे बढ़ें ! यह एक विशेष प्रकार का व्यसन पूज्यपाद के स्वभाव का अविभाज्य अंग था।

खान-पान के विषय में पूज्य मालवीयजी की दृढ़ता अथवा उनके दृष्टिकोण को न समझने वालों की दृष्टि में उनकी कट्टरता के दो-एक उदाहरण सुनिये। रेल की लम्बी यात्रा में यदा-कदा दूध में गुँधे आटे की घी की पूड़ियों तथा मोहन-भोग वह सेवन कर सकते थे। देगची में दाँतुन, मिट्टी और तेल की बोतल साथ में रहती थी और बाल्टी भी, जो स्नान करने के काम देती थी।

× × ×

पेशावर में राधाकृष्ण संस्कृत पाठशाला में वे ठहरे हुए थे। हम लोगों ने चमेली की बोतल को तेल से रिक्त देखकर बाज़ार से एक बोतल चमेली मँगा ली। कदाचित् मालवीयजी की दृष्टि सूनी बोतल पर पहले पड़ चुकी थी। जब यह कहा गया कि नई बोतल बाजार से मँगा ली गई है तब तुरन्त उन्होंने तेल-सहित उसे अपने सामने ही फिकवा दिया। पेशावर जैसे नगर में कभी उस बोतल में मद्य रहा हो, यह मालवीयजी को संदेह हुआ था।

× × ×

बात आसाम के दौरे की है। श्री तरुणराम फूकन आसाम के सुप्रसिद्ध नेता थे और मालवीयजी उन्हीं के यहाँ ठहरने वाले थे। श्री तरुणराम फूकन ब्राह्मण थे, पर मुझे आदेश यह हुआ कि उनके घर से पाकार्थ पात्र न लेकर मिट्टी के बर्तनों में ही सूक्ष्म रूप से कुछ भोजन रखूँ। कारण यह कि फूकनजी के पात्र मत्स्य-मांस के सेवन में प्रयुक्त न हुए हों, यह कैसे मान् लिया जाय? मेरे भोजन प्रस्तुत करने की बात सुनिये। मैं भी ब्राह्मण और उस सरयूपारीण ब्राह्मण जाति में उत्पन्न ठहरा जिसके बहुत-से आचारों की पूज्य मालवीयजी कभी-कभी सराहना भी करते थे। परन्तु मुझे यह आज्ञा मिली थी कि चावल-दाल पात्रों में ऊपर से डाल दूँ और कोई एक भाजी मृद्भांड में उसके पहले भून लूँ। वे केवल मालवीय ब्राह्मण का पकाया भोजन करते थे, यह सर्वविदित था और किसी प्राचीन प्रथा पर विश्वास रखने वाले को इसे बुरा न मान कर प्रसन्नता ही होती थी।

वस्त्र-परिधान के विषय में भी महामना मालवीयजी का चित्र देख लिया जाय। यह कह ही चुके हैं कि पूजापाठ के समय, कथा सुनाते समय, यहाँ तक कि भोजन करते समय भी, वे शुद्ध रेशमी वस्त्र का उपयोग करते थे। धोती के नीचे बिना सिला हुआ टुकड़ा वे लंगोट की जगह लगाते थे। बंडी पहनते थे जो नित्य धोयी जाती थी।...पहले वह पाजामा भी पहना करते थे, परन्तु पिछले दिनों में बाहर भी धोती ही में निकलते थे। लम्बी बन्ददार अचकन, उसके ऊपर भली भाँति सँवारी हुई पगड़ी और गले में घुटनों तक लटकता

हुआ दुपट्टा एवं ललाट पर मलयगिरि चंदन उनके सुघर गौर वर्ण पर विशेष शोभा देते थे।……शिरोबंधन के वे सँवारने में जैसी सावधानी रखते थे, उससे कम दुपट्टे के लगाने में नहीं करते थे। उसे गले में डालने के पूर्व उसकी चार परतों की एक परत करते, इस ढंग से कि किसी परत में कहीं सिकुड़न का नाम नहीं रहने पाता था। ऐसा करने में वे अपना हाथ स्वयं लगाते, सेवक का भी सहारा लेते और जब मेरे-जैसे किसी पार्श्ववर्ती को हाथ लगाने का अवसर आ जाता तो यह सहयोग वे बड़े संकोच के साथ स्वीकार करते थ। संकोचशीलता उनके स्वभाव का अंग था। मालवीयजी के वस्त्र शुभ्र रंग के ही होते थे।

किसी के बिस्तर पर बैठना अथवा लेटना पूज्य मालवीयजी समीचीन नहीं समझते थे। १९३६ ई० के साधारण निर्वाचन के दिनों में बस्ती से गोरखपुर जाने के लिए जब वे ट्रेन में घुसे, तो उनके सामान के पहुँचने में कुछ विलम्ब था; एक रेलवे निरीक्षक ने अपने बिस्तर पर बैठ जाने के लिए मालवीयजी से आग्रह किया। दो-तीन बार उसकी प्रार्थना सुनकर उन्होंने कहा, "भाई, किसी के बिस्तर पर न बैठने का मेरा नियम है। स्वास्थ्य-शास्त्र की दृष्टि से भी तो जिस किसी के बिस्तर पर बैठ या लेट जाना ठीक नहीं कहा जा सकता।"

प्रिय ग्रन्थ

पूज्य मालवीयजी के स्वाध्याय के ग्रंथ थे 'महाभारत' तथा श्रीमद्भागवत। अपनी भागवत की पोथी में महत्त्वपूर्ण श्लोकों के नीचे हरे-लाल रंग की पेन्सिल के चिह्न उन्होंने बना रक्खे थे। ये पुस्तकें उनके निजी बक्स में रहती थीं और यात्रा के समय भी साथ में चलती थीं। पुस्तकों के साथ उस बक्स में वे अपने माता तथा पिता के चित्र भी रखते थे और संध्योपासना के समय उनका दर्शन कर लिया करते थे। इससे उनकी मातृ-पितृ-भक्ति का पता लगता है।

अपने भृत्यों एवं पार्श्ववर्तियों के प्रति भी मालवीयजी का व्यवहार कोमल, माधुर्यपूर्ण एवं अनुग्रहपूर्ण था। कुवाच्य उनके मुँह से कभी निकलते ही नहीं

थे। झुँझलाहट उनसे कोसों दूर थी। निजी सेवक से भी कुछ बिगड़ जाता तो 'भले मनुष्य' कह कर वे चुप हो जाते।—अपने सहचरों अथवा पार्श्ववर्तियों को सुधारने पर भी वे ध्यान रखते थे।

मिस्टर तथा स्क्वायर

पत्र-व्यवहार अथवा तार के शब्दों पर सावधानी रखना उनका एक विशेष गुण था। शब्द नितान्त उपयुक्त हों, एतदर्थ स्वयं अपने लेख में भी वे खूब काट-छाँट किया करते थे। जैसा-तैसा लेख उनके नाम पर कहीं नहीं जा सकता था। उनके लेख नागरी लिपि में हों अथवा रोमन लिपि में, बहुत ही सुस्पष्ट, सुन्दर तथा कलापूर्ण होते थे। कलापूर्ण इसलिए कि उनकी बनावट एक विचित्र ढंग की होती थी। अक्षरों को विकृत करके लिखना उनके स्वभाव में न था।

एक दिन बिडला हाउस, बम्बई में पूज्य मालवीयजी ने एक पत्र प्रसिद्ध बैरिस्टर श्री एम० आर० जयकर के नाम लिखा। लिफाफे पर मुझे उनका पता लिखने का आदेश मिला। मैंने लिखा 'मिस्टर एम० आर० जयकर।' पंडित-जी की पैनी दृष्टि से ये शब्द छिपे न रहे। उसी समय साधु शब्दों में बोल पड़े—"मिस्टर शब्द मोची (Coblie) जैसे वर्ग वालों के लिए प्रयुक्त होता है। भद्र पुरुषों के लिए नाम के आगे श्रीयुक्त-बोधक 'स्क्वायर' शब्द का प्रयोग होना चाहिए।"

इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण भी उपयुक्त होगा। पंजाब की यात्रा में वे लाहौर के मार्ग में थे। ट्रेन में मुझे अँगरेज़ी का एक दैनिक सुनाने का आदेश मिला। पत्र पढ़ने में उन्होंने शैथिल्य और किंचित् कंपन पाकर टोका, "You should have self-confidence" अर्थात् "आप में आत्म-विश्वास होना चाहिए।"

—चन्द्रबली त्रिपाठी

करुणावतार

लाहौर की बात है। तब हम बच्चे ही थे। महामना मदनमोहन मालवीय ऋषि-भवन में ठहरे हुए थे। उनका स्वास्थ्य ख़राब था। डाक्टरों ने उन्हें किसी सार्वजनिक समारोह में भाग लेने से रोक रखा था।

दोपहर का समय था। मैं, श्री यश (उप शिक्षा-मंत्री, पंजाब) तथा श्री शिवकुमार शारदा उनसे मिलने के लिए पहुँचे। ऋषि-भवन के मालिकों ने हमें रोका और कहा—

"पंडितजी, बीमार हैं। तुम उन्हें मिल नहीं सकते।"

हम तीनों निराश होकर बैठ गए और दम लेकर लौटने की सोचने लगे।

"हमें बगैर मिले जाना नहीं चाहिए।" यश ने सलाह दी।

"ठीक है लेकिन ········"

हमने कमरे के भीतर खाँसने की आवाज़ सुनी। मालवीयजी ने करवट बदली और उन्होंने परिचारक से पूछा—

"कौन है ?"

"बच्चे हैं। आपसे मिलने के लिए आग्रह कर रहे हैं।"

"बच्चों को आने दीजिये !"

मालवीयजी आत्म-विभोर होकर बोले—"बच्चों से मिलकर मुझे प्रसन्नता होगी।"

हम तीनों बालसुलभ भय से उठे और बड़ी शांतिपूर्वक उनके सामने चले गए।

"आओ बच्चो !"

मालवीयजी मधुर वाणी से बोले। उन्होंने आशीर्वाद देते हुए हमें बैठने का संकेत किया। हम नमस्कार करके बैठ गए।

हमें बोलने का साहस नहीं हो रहा था। सोच रहे थे कि इतने बड़े आदमी से बात कैसे करें। कुछ भी सूझ नहीं रहा था। जो कुछ सोच कर आये थे, सब विस्मृत हो चुका था।

"लाओ, इनके लिए कुछ मिठाई लाओ!"

महामना मालवीयजी का परिचारक चला गया।

"बोलो, क्या चाहते हो?" मालवीयजी ने धीरे से पूछा।

हम घबराहट में एक साथ बोल पड़े—"हम जलसा कर रहे हैं। आप दर्शन........"

मालवीयजी कुछ रुक कर बोले, "......तुम जानते हो। डाक्टरों ने पाबंदी लगा रखी है कि मैं किसी सभा-जुलूस में भाग नहीं ले सकता।"

शरीर ज्वर से पीड़ित था, चेहरा पीला पड़ गया था। पर मुख पर एक दिव्य आभा खेल रही थी। उनकी शारीरिक अवस्था ठीक नहीं थी।

"कैसा जलसा कर रहे हो बेटे?" मालवीयजी ने प्रश्न किया। उनकी आँखों में चमक थी।

"बाल-शहीद राजपाल की बरसी है।" यश बोला।

"शहीद राजपाल बाल-भारत सभा का सदस्य था। एक जुलूस में पुलिस ने उसे पकड़ा, मारा-पीटा और बेहोश कर दिया।"

मैं कह रहा था—

"पुलिस कह रही थी कि तू राष्ट्रीय झण्डे पर थूक......तब तुझे छोड़ देंगे। बाल-शहीद राजपाल ने पुलिस की बात नहीं मानी, पिटता रहा और मर गया।"

"तब?"

मालवीयजी चौंक उठे। उनके मुख पर विषाद की रेखाएँ खिंच गईं।

"पुलिस ने राजपाल को मार कर तालाब में फेंक दिया। हमने दूसरे दिन तालाब में तैरती लाश पायी।"

मैंने अपनी बात पूरी की और श्री मदनमोहन मालवीय के चेहरे की ओर देखा, उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। करुणा-विभोर होकर वे बोले—

"बेटा, मैं आऊँगा।"

उनका कण्ठ अवरुद्ध हो चुका था।

साँझ हो चली थी। लोग लुहारी गेट के बाग़ में जमा हो रहे थे। भीड़ की भीड़ आ रही थी। लोग कह रहे थे :

"मालवीयजी नहीं आयेंगे। लड़के झुठला रहे हैं। वे बीमार हैं।" लोगों की बातें सुनकर हमारा दिल बैठ रहा था। हमारे मन शंकाकुल हो जाते थे। सोचते थे, 'यदि मालवीयजी न आये तो बड़ी भद्द होगी। लोगों में हमारा विश्वास नहीं रहेगा।'

"आयेंगे!" कहकर मैंने अपने साथियों को विश्वास दिलवाया।

सहसा जलसे के सामने एक मोटर आकर रुकी। श्री मदनमोहन मालवीय बर्मा के एक राष्ट्रीय नेता के कन्धे का सहारा लिये आ रहे थे। लोग हर्षोल्लास के नारे लगा रहे थे :

"पं० मदनमोहन मालवीय की जय हो!"

"बाल-शहीद राजपाल—"

"ज़िन्दाबाद!"

पं० मदनमोहन मालवीय सभा-मंच पर आ विराजे। ज्वर के कारण शरीर दुर्बल था, पर मुख आत्म-बल से चमक रहा था।

मालवीयजी की अपील पर तीन हज़ार रुपया बालभारत सभा के नमक चोर-लंगर के लिए जमा हो गया।

पं० मदनमोहन मालवीय की स्मृति आते ही मेरी आँखें साक्षात् करुणा-वतार के दर्शन करने लगती हैं।

—देवदत्त 'अटल'

युग के महानतम मानव

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे काशी-विश्वविद्यालय में लगातार चार वर्ष रहने और पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय विद्यालय के जन्मदाता गोलोकवासी महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय ही उसके कुलपति थे। प्रवेश-द्वार के कुछ ही आगे बढ़ने पर दाहिने हाथ वाली कोठी में वे रहा करते थे। मैंने अपने जीवन का क्रम बना लिया था कि प्रातःकाल उठकर कोठी की ओर जाना और इस युग के सबसे बड़े और सबसे महान् मानव के दर्शन कर के अपने जीवन को सफल बनाना और उनसे प्रेरणा लेना। वे भी घूमने जाया करते थे और घड़ी की सुई की चाल को प्रतिद्वन्द्विता में हराने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। मैंने समय को भाँप लिया था और ठीक एक ही स्थान पर एक ही समय मेरा और ऋषि-समान महामानव का आमना-सामना हो जाया करता था और मैं उनका चरण-स्पर्श कर अपने मानव-जीवन को कृत-कृत्य समझा करता था।

मेरे जीवन को जो मोड़ मिला, वह उसी महामानव की कृपा के फल से। वह ऐसा युग था कि जब किसी हरिजन बालक का पढ़ना उतना आसान नहीं था। विद्यालयों में बड़े-बड़े प्रतिबन्ध लगे हुए थे और उच्च शिक्षा प्राप्त करना तो प्रायः असम्भव ही था। किन्तु महामना के सरस्वती-मन्दिर (काशी विश्वविद्यालय) में इस छुआ-छूत के अभिशाप का प्रवेश नहीं था। उनके दर्द भरे दिल में ऊँच-नीच का भेद-भाव जैसे कभी आया ही नहीं, और यदि उन का झुकाव भी हुआ तो हरिजनों की ही ओर। बस, उनको मालूम भर हो जाना चाहिए कि यह बालक हरिजन है, और उनकी उदारता के कपाट उसके लिए खुल जाते थे। शिक्षा-शुल्क और छात्रावास-शुल्क तो माफ हो ही जाता था, उसके दूसरे खर्चे भी महामना अपने पास से पूरे कर दिया करते थे। आज शिक्षित हरिजन-समुदाय में काफी संख्या उन लोगों की है जिन्हें मालवीयजी की उदारता के कारण ही सारी सहूलियतें प्राप्त हुईं।

हरिजनों के लिए करुणासागर

देहरादून की बात है। मंसूरी जाते हुए सन् १९३५ में महामना के दर्शनों का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। हरिजनों की दुर्दशा का ज़िकर छिड़ गया। वे बतला रहे थे कि "मानव-नामधारी ये करोड़ों प्राणी कितनी दयनीय दशा से गुज़र रहे हैं। इन्हें एक वक्त का अन्न जुटाने के लिए असंख्य यंत्रणाओं का सामना करना पड़ता है, फिर भी भोजन नसीब नहीं होता। मैंने अपनी आँखों से देखा है उन सैंकड़ों हरिजन बालक और बालिकाओं को गाय के गोबर में से अन्न के दाने बीनते हुए, ताकि उनका वे अपनी क्षुधा-निवारणार्थ उपयोग कर सकें।" और यह कहते-कहते उस करुणासागर की आँखों से अजस्र अश्रु-धारा बह निकली। उपस्थित जन-समुदाय निस्पन्द हो गया। कितनी दया और कितनी करुणा भरी थी उस दया-सागर के हृदय में हरिजनों के प्रति!

हारिये न हिम्मत, बिसारिये न राम

विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष लेकर मानवता के सर्वोत्कृष्ट स्तर पर पहुँचने वाले महामना का जन-समुदाय के लिए सदैव यही आदेश रहता था कि हिम्मत को कभी हाथ से नहीं जाने देना चाहिए और न कभी भगवान् को भुलाना चाहिए। उनके ये शब्द—"हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम"—एक शाश्वत संदेश के रूप में जन-मानस को आगे बढ़ने के लिए सदा उत्साहित करते रहेंगे। सन् ४० की बात है, हरिजनों में फिर एक बार धर्म-परिवर्तन की लहर दौड़ चली, तो उन्होंने मुझे यह लिखित आदेश भेजा कि विपरीत परिस्थितियों से घबराना नहीं चाहिए, काम को आगे बढ़ाये चलो और परिणाम की चिन्ता न करो। स्वराज्य के मिलने में अब अधिक देरी नहीं है। स्वराज्य के मिलने के पश्चात् तो परिस्थितियाँ अपने-आप ही बदल जायेंगी और राज्य की बागडोर उनके हाथ में आयेगी जिनका जनसंख्या के अनुपात में बहुमत होगा। हरिजनों ने बहुत बुरे दिन देखे हैं, वे बहुत अच्छे दिन भी देखेंगे; क्योंकि उतार और चढ़ाव जीवन का क्रम है।"

आज १०० वर्ष हो रहे हैं उस महामानव के अवनि-तल पर अवतीर्ण होने

के और ये बड़ी हस्तियाँ विशिष्ट कार्यों के सम्पादन के लिए ही जन्म लिया करती हैं। आज उनके करोड़ों देशवासी उनकी पुण्य-स्मृति में सादर श्रद्धांजलि समर्पित कर रहे हैं और उनमें एक अकिंचन मैं भी हूँ जिसे कभी उनके अत्यन्त निकट में रहने का सौभाग्य प्राप्त रहा है।

—चौ० गिरिधारीलाल
(मंत्री, उत्तरप्रदेश-शासन)

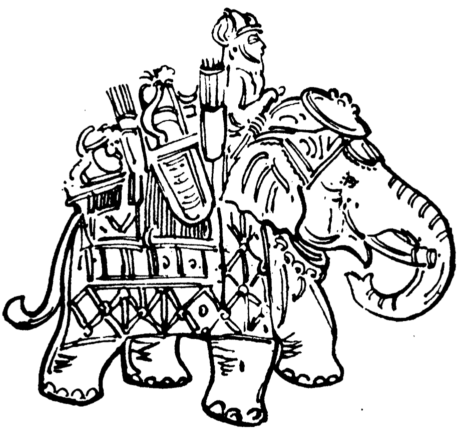

दीनबन्धु महामना

परम श्रद्धेय गोलोकवासी महामना मदनमोहनजी मालवीय के संपर्क में सबसे पहले आने का सौभाग्य मुझे १९३४ में मिला। इसके पूर्व उनके बारे में सुन तो बहुत रखा था, किन्तु अधिक निकट से उनके स्वच्छ एवं निर्मल चरित्र के दर्शन करने का मौका मुझे प्राप्त नहीं हो सका था। प्रथम भेंट का परिणाम यह हुआ कि मैं उनका भक्त ही बन गया, मुझ पर उनके व्यक्तित्व का मानो जादू-सा हो गया हो।

यह भेंट लगभग डेढ़ घंटे तक चली, जिसमें उन्होंने अपने हृदय की वेदना मेरे सामने उँडेल दी। उस दिन ही मुझे मालूम हुआ कि दलित-वर्ग की दुरवस्था से उनका नवनीत के समान स्वच्छ और कोमल चित्त कितना भाराक्रान्त और दुःखी है और उनकी कल्याण-कामना उनके जीवन की कितनी बड़ी साधना का रूप धारण कर चुकी है। बातचीत के दौरान में जब डाक्टर अंबेडकर द्वारा उठाये गए धर्म-परिवर्तन आन्दोलन का जिक्र आया, तो वे अधीर हो उठे। हिन्दू धर्म के इन करोड़ों लाड़लों के विधर्मी बन जाने की कल्पना-मात्र से वे सिहर उठे। मैंने उनकी आँखों में आँसू तैरते देखे। कितना विचलित हो गया था वह धीर गम्भीर महामानव उस समय, यह मैं प्रयत्न करने पर भी भुला नहीं सकूँगा।

जब मैं चलने लगा और मैंने उनके पाँव छुए तो मेरे दोनों कंधों को पकड़ उन्होंने मुझे उठा बरबस अपने हृदय से लगा लिया। उनका स्वर भावावेश में काँप रहा था, जब वे बोले—"धर्मप्रकाश, भारत में धर्म का प्रकाश करने के लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है, यह स्पष्ट देख रहा हूँ। दलित-वर्ग में स्वदेश, स्वराष्ट्र और स्वधर्म के प्रति निष्ठा बढ़े, इस कार्य को तुम्हें सँभालना है और मुझे आशा है तुम सँभाल लोगे। तुम्हारे मज़बूत कंधों में इस भार को ढोने की सामर्थ्य है, यह मैंने समझ लिया और इसी कारण मैंने तुम्हें बुलाया भी

था। बोलो, अब कब आओगे ?" और इन शब्दों को कहते-कहते उन्होंने मेरी आँखों में अपनी आँखें डाल दीं और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेरा कलेजा मुँह को आ रहा है, मैं बरबस उनकी ओर खिंचा जा रहा हूँ, कोई अदृश्य शक्ति मुझे मजबूर कर रही है कि मैं अपने-आप को उन्हें सौंप दूँ। उस प्रबल जादूगर में मैं खो-सा गया। उनके उस महान् व्यक्तित्व के सामने संसार की हस्तियाँ मुझे नगण्य-सी प्रतीत होने लगीं और उस ऋषि के चरणों में आत्म-समर्पण करने के सिवा मेरे पास कुछ चारा ही नहीं रहा। उस समय भी उनकी आँखें तरल थीं और वात्सल्य के भाव से आपूरित।

भेदभाव-शून्य

महामना के साथ यह पहली भेंट काशी में हुई थी। उस समय धर्म-परिवर्तन आन्दोलन की बड़ी चर्चा थी, जिससे वे अत्यन्त विचलित-से हो चले थे। उन्हें किसी हरिजन कार्यकर्त्ता की तलाश थी, जो भोली-भाली हरिजन जनता को धर्म-निष्ठा के मार्ग से विचलित न होने दे और देश, राष्ट्र तथा धर्म के प्रति बढ़ती हुई उस ग़द्दारी के प्रवाह को रोकने में समर्थ हो। किसी ने उन्हें मेरे बारे में बताया कि मेरा प्रायः सारा जीवन ही दलित-वर्ग की सेवा के लिए उत्सर्ग हो चुका है, और उन्होंने मुझे बुला भेजा। मैंने जहाँ पूज्य मालवीयजी के बारे में बहुत-सी खूबियों से भरी बातें सुन रखी थीं, वहाँ यह भी सुना था कि वे कट्टर सनातनी हैं, छुआछूत के प्रबल समर्थक हैं—यदि किसी हरिजन से छू जाते हैं तो जब तक पूरे कपड़ों के साथ स्नान करके 'शुद्ध' वस्त्र नहीं पहन लेते, तब तक अपने को शुद्ध नहीं मानते, आदि-आदि; किन्तु जब मैंने उन्हें निकट से देखा, तो उस कट्टरता की झलक भी मुझे वहाँ नहीं मिली। मुझे सदा उसी चौके से भोजन कराया जाता था, जिससे पूज्य मालवीयजी भोजन करते थे।

उस पहली भेंट के पश्चात् बीसियों बार मैं उनसे मिला, उनके साथ कई बार रेल में सफर करने का भी मौक़ा मिला। उनके साथ बम्बई, कलकत्ता, लाहौर भी कई बार जाना पड़ा, किन्तु किसी भी प्रकार की कोई दुभाँत उनके व्यवहार में मैंने नहीं पायी। इसके विपरीत हर बार उस महामानव के निकट सम्पर्क में आ-आकर नयी से नयी प्रेरणाएँ ही मुझे मिलीं।

पूज्य मालवीयजी के कई पत्र आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं, और प्रायः सभी मेरे जीवन की अमूल्य थाती हैं। उनका कोई भी पत्र ऐसा नहीं जिसमें प्रोत्साहन के दो शब्द न हों, प्रेरणादायक संदेश न हो, अथवा पथ-प्रदर्शन का संकेत न हो।

बात-बात में तीन महावाक्य उनके मुख से निकला करते थे—

१—निर्बल के बल राम;

२—बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुध लेय; और

६—हारिये न हिम्मत, बिसारिये न राम।

आज भी उनके ये शब्द मुझे अपने कानों में गूँजते-से प्रतीत होते हैं।

वसुधैव कुटुम्बकम्

हिन्दू जाति और वैदिक सनातन धर्म के प्रति उनके हृदय में अथाह प्रेम था। उनके नजदीक रहने वाले लोग भी न तो उस प्रेम की गम्भीरता आँक सके, और न उसकी थाह ही पा सके। यदि यह कहा जाये कि मालवीयजी सनातन धर्म के मूर्तरूप और भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे, तो यथार्थता को ही प्रकट करना होगा। उनका अन्तर और बाह्य विशुद्ध भारतीय था और राष्ट्रीयता की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी।

देश की आज़ादी उनके जीवन का व्रत था सही; किन्तु उनके कल्पना की आजादी की नींव भारतीय संस्कृति पर आधारित थी, जिसमें आध्यात्मिकता का अपना स्थान था। उनका ऐसा विश्वास था कि हिन्दू धर्म ही मानव-धर्म है और वही विश्व-धर्म बनने की क्षमता रखता है। क्योंकि, केवल इस धर्म में ही अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड को एक कुटुम्ब माना गया है और विश्व-बन्धुत्व की घोषणा की गई है। संसार का कोई धर्म इतना उदार नहीं ; सारे धर्मों और मत-मतान्तरों के प्रति उसमें श्रद्धा की भावना पायी जाती है। मनुष्य तो एक ओर, जड़-जंगम तक से इसमें प्रेम-भावना का संदेश मिलता है। यही एक पक्ष-निरपेक्ष धर्म है, संकीर्णता को इसमें कोई स्थान नहीं। वे निष्ठा-पूर्वक इस मान्यता में विश्वास रखते थे कि हिंदू धर्म को राष्ट्र का धर्म घोषित होना चाहिए। ऐसे विशाल धर्म की बुनियाद पर आधारित समाज के विभा-

जन का प्रश्न उठाना उनकी दृष्टि में भयंकर अपराध था जो किसी भी राष्ट्र-भक्त को शोभा नहीं देता और किसी भी प्रकार क्षमा नहीं किया जा सकता।

दलितोद्धार की समस्या

दलित जाति को महामना हिंदू जाति का अभिन्न अंग मानते थे, दलितोद्धार उन्होंने अपने जीवन का व्रत बनाया था और इसको उन्होंने अपने जीवन-काल में धार्मिक निष्ठा के साथ क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। उनका यह व्रत मानव-कल्याण की विशुद्ध पुण्य-भावना से प्रेरित था, उसकी पृष्ठ भूमि में किसी प्रकार का भी राजनैनिक दृष्टिकोण नहीं था। जिस प्रकार शरीर का कोई अंग कुष्ठ-रोग से पीड़ित हो जाय तो सारा शरीर ही विषाक्त बन जाता है; उसी प्रकार यदि दलित वर्ग विशाल हिंदू-समाज का इसी प्रकार दूषित अंग बनकर रहेगा तो वह समाज अवश्यमेव मरणासन्न हो जायेगा, इसकी रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकेगा। उन्होंने अपने इन विचारों को स्थान-स्थान पर अत्यन्त जोरदार शब्दों में व्यक्त किया है।

वे चाहते थे कि तथाकथित दलित अपनी इस हीन भावना से ऊपर उठ अपने-आप को विशाल हिन्दू जाति का एक सबल अंग समझने लगें। स्वच्छता का उनके जीवन में प्रवेश हो और धर्म-भीरुता उनके जीवन का संबल बने। इन्होंने स्थान-स्थान पर जाकर 'ओ३म् नमः शिवाय' की हरिजनों को दीक्षा दी और संयम और सादगी के जीवन की ओर उन्हें प्रवृत्त करके उनमें 'अहं' भाव को जगाया।

सैकड़ों हरिजन नवयुवकों को आर्थिक सहायता देकर उन्हें उच्च शिक्षा दिलायी, ताकि उनमें खुद्दारी की भावना जगे और वे देश के समर्थ नागरिक बनकर 'हरिजन-सेवा' के व्रत को अपने जीवन का लक्ष्य बनावें। वे कहा करते थे कि जिस प्रकार एक दीपक से जलकर सैकड़ों दीपक जगमग-जगमग करने लगते हैं और अन्धकार को नष्ट कर प्रकाश फैला देते हैं, इसी प्रकार ये पढ़े-लिखे हरिजन नवयुवक अपनी इस पिछड़ी हुई जाति में व्याप्त अज्ञानान्धकार को मिटा, उसे ज्ञान की ज्योति से जगमगा देंगे।

महामना का देवतुल्य व्यक्तित्व

महामना के अगाध पाण्डित्य और उनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के सामने कौन ऐसा व्यक्ति था जो नत-मस्तक न हो गया हो; उनकी बात-चीत का ढँग कुछ इस प्रकार की विशेषता लिये रहता था कि जो भी एक बार उनसे मिलता, यही महसूस करने लगता कि "मालवीयजी की विशेष अनुकम्पा प्राप्त करने का सौभाग्य केवल मुझे ही प्राप्त हुआ है।" उनकी बातें चूँकि सीधी दिल से निकलती थीं, उनमें किसी प्रकार का लाग-लिपटाव नहीं होता था, इसीलिए वे सीधे दिल पर असर करती थीं और जिससे वे एक बार बात कर लेते थे, वह उनका मुरीद बन जाता था।

आतिथ्य-सत्कार में मालवीयजी से बढ़कर मुझे तो कम से कम अपने ४५ वर्ष के सार्वजनिक जीवन में कोई दूसरा व्यक्ति देखने को नहीं मिला। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह अनजाना ही क्यों न रहा हो, ज्योंही उनके पास पहुँचता, पहला प्रश्न वे उससे करते—"क्यों भाई, अच्छे तो हो? पहले भोजन कर लो, फिर बातें होंगी। जहाँ तुम ठहरे हो वहाँ किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है, नहीं तो फिर यहाँ ही आ जाओ" आदि-आदि। कितना ममत्व होता था सत्कार के इन शब्दों में! ये शब्द वे रस्मी तौर पर अदा नहीं करते थे, बल्कि इनमें वात्सल्य की भावना के साथ-साथ वास्तविकता का पुट रहता था।

—डा० धर्मप्रकाश, संसद्-सदस्य

अमोघ दान

पूज्य मालवीयजी और पूज्य पिताजी के आपसी सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ थे। दोनों एक-दूसरे को भाई कहा करते थे। परन्तु मालवीयजी कुछ मास बड़े थे और पिताजी उन्हें ज्येष्ठ भ्राता करके ही मानते रहे। मुझे इस घनिष्ठता का बड़ा लाभ मिला। मालवीयजी के बहुत निकट रहने तथा उनके दैनिक जीवन के प्रवचनों और वार्तालापों को देखने, सुनने एवं उनसे सीखने के अनगिनत अवसर मुझे मिले। अब मैं सोचता हूँ तो अनुभव होता है कि उन सम्पर्कों से जो कुछ पाया है वह अमूल्य है और उसे प्राप्त कर आज मेरा मस्तक उन पुण्यश्लोक महात्मा के प्रति एक पितृव्य के नाते ही नहीं, एक गुरु के नाते आभार से झुकता है। सामीप्य के वे क्षण धन्य थे !

अनेकों कहानियाँ याद आती है, परन्तु यहाँ एक देता हूँ। मैं सत्रहवें वर्ष में था, दिल्ली के हिन्दू-कालेज में पड़ता था और वहीं रहता था। उन दिनों कालेज काश्मीरी गेट के अन्दर अपने भवनों में था, पास में रायबहादुर सुल्तानसिंह की कोठी पर महामना श्री मालवीयजी आकर ठहरे हुए थे। वे प्रायः उन्हीं के पास ठहरते थे। प्रायः ८ बजे के लगभग जाड़े के दिनों में जल्दी समझ कर उसके पास गया। बाहर के कमरे में 'लीडर' के सम्पादक श्री सी० आई० चिन्तामणि बैठे थे। एक-दो और भी थे, जिन्हें मैं पहचानता न था। मालवीयजी अंदर पूजा में थे। इतने में उनका निजी सेवक आया। मैंने कहा और उसने मालवीयजी को समाचार दिया तो उन्होंने मुझे बुला लिया। मुझे बड़ा आनन्द हुआ कि इतने बड़े-बड़े आदमियों को बिठाये रखकर उन्होंने मुझे बुला लिया। अन्दर गया तो देखा कि वे आसन पर जमे, श्वेत लोई ओढ़े, पूजा में बैठे हैं। सामने चौकी पर श्रीमद्भागवत खुली रखी है। मैंने बिना उनके चरण छूए, दूर से ही झुक कर प्रणाम किया, इसलिए कि मैं बिना स्नान किये गया था। पूजा में उनका स्पर्श कैसे कर सकता था ! अस्तु, बैठा तो उन्होंने मेरी ओर देखा और माथे पर तिलक न देख पूछा, "शून्य-मस्तक क्यों हो ?" मैं

कुछ घबरा-सा गया, परन्तु अपने बचाव के लिए कहा, "अभी स्नान-संध्या जो नहीं किया है !" वे सुनकर और अधिक खिन्न होकर बोले, "अच्छा तो अभी तक स्नान-संध्या भी नहीं किया है ? और तुम एक ब्राह्मण के बालक भी हो ! ब्राह्मण भी श्रोत्रिय पं० दीनदयालु के पुत्र !" मैं कट गया। कहीं छिपने को जगह नहीं थी। जी करता था कि कहीं मुँह छिपा लूँ। पर क्या करता ! मुँह से कुछ भी कहना संभव न हुआ। कुछ क्षण मेरी यह दुर्दशा वे देखते रहे। मुझे वे क्षण युग-समान बीते होंगे। फिर वे बड़े कोमल और मृदु भाव से बोले, "बेटा, देखता हूँ तुम्हें अपनी भूल का अनुभव हो रहा है और उस पर मन में पश्चात्ताप हो रहा है। पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है जिससे मन पवित्र हो जाता है। भूल का प्रायश्चित्त इसी प्रकार होता है कि फिर वैसी भूल न करने का संकल्प कर लिया जाय।" मैंने कहा, "मैं भी यही सोच रहा हूँ।"

वे फिर बोले, "तुम्हें लाज आ रही है—मैं प्रसन्न हूँ। अब ऊपर देखो !" मैंने वैसा ही किया। उन्होंने पूछा, "तुम्हारे पास वाल्मीकि-रामायण है ?" मेरे पास नहीं थी। तब उन्होंने नौकर को बुला कर एक पुस्तक 'सनातन धर्म-संग्रह' नाम की देकर कहा, "वाल्मीकि-रामायण के बाल्यकाण्ड में एक सर्ग में (मुझे अब उसकी संख्या स्मरण नहीं है) वर्णन है कि श्रीराम जब ऋषि वशिष्ठ के आश्रम में विद्याध्ययन को गये तो उनकी दिनचर्या क्या थी। वह सन्दर्भ मैंने इस पुस्तक में उद्धृत किया है।" वह निकाल कर खुली पोथी मुझे दी और कहा, "इसे पढ़ो !" मैंने उसका पाठ किया। दिन के चौबीस घण्टे की चर्या उसमें विस्तार से दी थी। पढ़ा, तो मुझे लगा कि इसमें से अधिकतर बातों में मेरा आचार श्रीराम के आचार के अनुकूल नहीं है। मुझे बड़ा खेद हुआ, अपने पर ग्लानि हुई। मालवीयजी बोले, "इतनी संस्कृत तो समझते हो न ?" मैंने सिर हिलाकर 'हाँ' कहा तो बोले, "वचन दो कि नित्य प्रायः एक मास तक इसका पाठ संध्या के बाद किया करोगे।" मैंने सहमति प्रकट की तो उन्होंने कहा, "नहीं, ऐसे नहीं; आओ, मेरे चरण-स्पर्श करके कहो !" मैं गद्गद हो गया। उन्होंने सिर पर हाथ रख के आशीर्वाद दिया तो ऐसा लगा, मानो अपना ब्राह्मणत्व उन्होंने मुझे दे दिया हो। मैं धन्य होकर लौटा।

उस दिन के, एक मास नहीं, छः मास बाद तक वह पाठ नित्य होता था, ब्राह्म मुहूर्त्त में। पौष-माघ में भी तारों की छाँव में मैं स्नान कर संध्या के लिए बैठ

जाता। नित्य अपने जीवन को उसमें वर्णित चर्या से मिलाता। धीरे-धीरे बढ़िया और नये बने कोट-पतलून उतर गए। खादी की धोती और कुरते ने उनका स्थान ले लिया। फिर एक वर्ष में ब्रह्मचारी के समान नंगे पाँव, नंगे सिर, बिना जूती और छतरी लिये केवल धोती-कुरते में ही कालेज में तथा घर-बाज़ार में जाता रहा। कुछ दिन साथी और प्रोफेसर सभी हँसे, परन्तु पीछे सब आदर करने लगे।

अब याद करता हूँ तो लगता है कि उस दिन यदि मालवीयजी का वह उपदेश और और आशीष न मिला होता तो जीवन को शायद वह जीवन-दिशा और संयम की वह दीक्षा न मिलती, जो इस जीवन की सबसे बड़ी कमाई है।

—मौलिचन्द्र शर्मा

सीमाप्रान्त के रक्षक

सन् १९२२ व २३ का समय था। कोहाट में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो रहा था। महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय प्रथम बार इस सीमान्त प्रदेश में आये हुए थे। इस प्रदेश में हिन्दू आबादी केवल ७ प्रतिशत थी, जिसके लिए महामनाजी अत्यन्त चिंतित हुए। उन्हें यह आशंका अधिक सताने लगी कि कहीं ऐसा न हो कि विश्व-राजनीति के चक्कर में फँसकर यह ७ प्रतिशत हिन्दू आबादी अन्य धर्म की शरण में चली जाये। इसके प्राचीन धर्म की रक्षा तभी हो सकती है जब इनमें अपने धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा तथा लगन हो। इस निष्ठा तथा लगन को पैदा करने के लिए किसी प्रतिनिधि संस्था की आवश्यकता है जिसके प्रचार से इन लोगों के हृदय में धार्मिक भावना बलवती हो। कठिन से कठिन स्थिति में भी ये अपने धर्म से विचलित न हो सकें। चाहे मृत्यु को हंस कर भले ही स्वीकार करें, पर अपने धर्म से च्युत न हों। मालवीयजी ने इस आवश्यकता को अनुभव करते हुए सन् १९२३ में व्याख्यानवाचस्पति पं० दीन-दयालुजी शर्मा के सभापतित्व में होने वाले स० ध० सम्मेलन में स० ध० प्रतिनिधि सभा की स्थापना का अनुरोध किया। तथा इस प्रतिनिधि सभा का भार भी त्यागमूर्ति गोस्वामी श्री गणेशदत्तजी महाराज के कर्मठ कंधों पर डाला। सभा के प्रचार से सीमान्त के हिन्दुओं में धार्मिक जागृति हुई। इसके प्रचार के लिए उन्हीं के आदेशानुशार दैनिक 'वीर भारत' जारी किया गया, जिसने देश-सेवा में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। महामना की यह भावी शंका, कि सीमान्त के हिन्दू कहीं पतित न हो जायें, स० धर्म प्र० सभा, पंजाब ने अपने प्रचार से निर्मूल प्रमाणित करके दिखा दी। वहाँ के हिन्दुओं में अपने धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा पैदा हुई तथा वह अन्त तक क़ायम रही। सन् ४७ के विप्लव में उन्होंने अपने धर्म पर दृढ़ रह कर विरोधियों की आँखें खोल दीं।

रेल का टिकट

लाहौर में महामना ऋषि-भवन में ठहरे हुए थे। मैं तथा उनके पुत्र गोविन्द मालवीय दोनों ही उनके साथ रहते थे। हिसाब-किताब भी हम दोनों के ज़िम्मे था। अचानक ही महामना को एक अस्पताल का शिलान्यास करने के लिए इलाहाबाद जाना पड़ा। साथ में हम दोनों भी थे। रास्ते में प्रत्येक स्टेशन पर महामना का स्वागत होता रहा। इलाहाबाद पहुँचने पर भी शानदार स्वागत किया गया। मैंने गोविन्दजी से पूछा कि टिकटें आपने ले ली थीं ? तो उन्होंने कहा कि मैंने समझा था कि आपने ले ली होंगी, इसलिए मैंने नहीं ली हैं। दर-असल दोनों में से किसी ने टिकटें नहीं ली थीं। इलाहाबाद में भी स्वागत के समारोह में किसी ने टिकटों के लिए नहीं पूछा। हिसाब समझाते समय जब महामना को पता लगा कि टिकटें नहीं ली गईं, तो वे बड़े नाराज़ हुए। तथा उसी समय रेलवे को २३६ रु० का मनीआर्डर भिजवा दिया। तथा इसके लिए रेलवे से आपने क्षमा-याचना की। रेलवे की रसीद देखकर ही मालवीयजी को सन्तोष हुआ।

—शिवराम सेवक

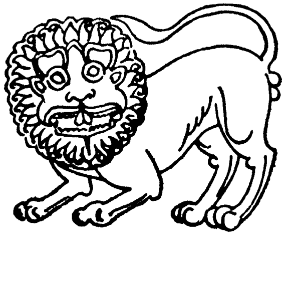

स्वयं खिचड़ी पका रहे थे !

सम्भवतः सन् २५ की बात है। लाहौर में श्री धौलपुर-नरेश की अध्यक्षता में सनातनधर्म महासम्मेलन हो रहा था। सनातन धर्म के अन्यान्य प्रमुख नेताओं के अतिरिक्त पूज्य मालवीयजी भी पधारे थे। स्वर्गीय गोस्वामी गणेशदत्त जी के सुदृढ़ हाथों में पंजाब की प्रतिनिधि सभा का नया कार्य-भार आया था। बड़ा जोश था।

इसी सम्मेलन के प्रसंग में एक दिन प्रातःकाल सूर्योदय से कुछ पूर्व ही आवश्यक सामग्री के विषय में पूछने जब महाराज के पास पहुँचा तो देखा वे पूजन में व्यस्त हैं और अँगीठी पर खिचड़ी उबल रही है। प्रणाम करके पूछा, "महाराज! कुछ अपेक्षित है ?" आचमन करके बोले—"प्रायः सब कार्य हो गया है। खिचड़ी बन रही है, फिर तो अवसर न मिलेगा। कार्यकारिणी से सवा बजे अवकाश होता। अब जब भी अवकाश मिलेगा, भगवान् को भोग लग जायेगा।" मैं यह सब जानकर दंग रह गया कि इतने बड़े कार्यव्यस्त नेता और अपनी परम्परा-निर्वाह की इतनी बड़ी निष्ठा! मालवीयजी गौड़ के हाथ का पका भोजन भी ग्रहण नहीं कर सकते। रसोइया बीमार हो गया तो स्वयं खिचड़ी पका रहे हैं।

केवल पन्द्रह मिनिट शयन

मैं 'पुराण-दिग्दर्शन' ग्रन्थ लिख चुका था। उसे श्री मालवीयजी को समर्पण करना चाहता था। कांग्रेस से मतभेद के कारण उस वर्ष स्वराज्य पार्टी नाम से एक नयी पार्टी का संगठन हुआ था। निर्वाचन में दोनों पक्ष अपने-अपने प्रतिनिधि खड़े कर रहे थे। श्री मालवीयजी उक्त पार्टी के प्रचारार्थ अखिल भारतीय दौरे पर थे। जब लाहौर आये तो मैंने उक्त ग्रन्थ की चर्चा की, बहुत प्रसन्न हुए। जब मैंने उसके समर्पण की बात कही तो बोले—"मैं

एक बार उस ग्रन्थ को सुनना चाहता हूँ, परन्तु अब निरन्तर भ्रमण में हूँ, समय भी नहीं।" गोस्वामी गणेशदत्तजी ने प्रस्ताव किया कि यह आपके साथ-साथ भ्रमण में रहेंगे, यथावकाश सुन लीजिये। ऐसा ही हुआ। लाहौर, अमृतसर, जालन्धर, लुधियाना, अम्बाला, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, आगरा, आदि बड़े नगरों का तूफानी दौरा रहा, मैं भी साथ-साथ सर्वत्र घूमा। प्रायः रेल में ही सुनने-सुनाने का अवसर मिलता था। तब कई बार यह अनुभव हुआ कि महामना कहते—"अच्छा, अब मैं पन्द्रह मिनिट शयन कर लेता हूँ।", और कहते ही नेत्र बन्द करके शवासन की भाँति सब शरीर ढीला छोड़कर पट्ट लेट जाते और सचमुच तत्काल सो जाते। फिर ठीक पन्द्रह मिनिट के बाद जगकर कहते, "अच्छा, अब आगे सुनाओ!"

—माधवाचार्य, शास्त्री

सबै काज गोपाल के

सन् १९३३ का दिसम्बर था। लाहौर के मोरी-दरवाज़े वाले मैदान में लगभग एक लाख व्यक्ति महामना मालवीयजी महाराज का भाषण सुनने को एकत्रित थे। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी, इसलिए सभा का समय सायंकाल ६ बजे रखा गया था परन्तु आठ बजने के बाद भी जब मालवीयजी महाराज न पधारे, तब जनसमूह में कुछ बेचैनी दीख पड़ी। डा० सत्यपाल पंजाब प्रान्तीय कांग्रेस के प्रधान अधिकारी थे, जनता में बेचैनी देखकर वह खड़े हुए और कहने लगे—"मालवीयजी महाराज में एक बड़ी बात यह है कि वे समय पर कभी नहीं पहुँचते; चाहे गवर्नर से मुलाक़ात करनी हो, वे लेट ही पहुँचेंगे। पिछले दिनों जब मैं जेल में था, तब मालवीयजी महाराज लाहौर आये थे। मैंने सोचा कि इस बार उनके दर्शन न होंगे, जेल तक पहुँचने का समय उन्हें कभी न मिलेगा। उसी दिन ग्यारह बजे मालवीयजी पंजाब के गवर्नर से मिलने वाले थे। जब मैं यह सब सोच रहा था, तब ग्यारह बजने में कुछ ही मिनट बाक़ी थे। इतने में ही बैरक का फाटक खुला और मैंने हैरानी के साथ देखा कि जेलर महोदय के साथ मालवीयजी महाराज चले आ रहे हैं। मैंने उठकर प्रणाम किया और कहा—'इस समय तो आपको गवर्नर से मिलना था! वे बोले, 'गवर्नर से भी मिल लूँगा, तुम चिन्ता न करो और सब तो गवर्नर से समय पर मिलने जाते ही हैं, मैं जरा देर से पहुँचूँगा तो भी कोई हर्ज़ न होगा। असमय में पहुँचने वाले एक-आध अतिथि से भी मिलने की आदत उनमें रहनी चाहिए।'

डा० सत्यपाल ने कहा—"मालवीयजी महाराज एक घण्टे तक वहाँ बैठे रहे। मेरे परिवार के प्रत्येक सदस्य के सम्बन्ध में उन्होंने पूछा। सार्वजनिक जीवन के प्रायः सब साथियों के बारे में जानकारी ली, राजनैतिक चर्चा की, तब गवर्नर से भेंट करने गये। आप विश्वास रखें, वे कहीं कोई ज़रूरी काम ही कर रहे होंगे। परन्तु आपको (जनता को) भूले न होंगे। उनका भाषण आप अवश्य सुनेंगे।"

साढ़े आठ बजे के लगभग मालवीयजी पधारे और दो घण्टे तक बोलते रहे। कड़ाके की सर्दी में लगभग एक लाख व्यक्ति साढ़े दस बजे तक अपने युग के अद्वितीय वक्ता का भाषण तन्मय होकर सुनते रहे।

× × ×

बड़े आदमी, लोकोत्तर मानव, समय के पाबन्द न हों तो उनके बड़प्पन में कमी मानी जाती है। कार्य समाप्त करने में भी उनके सामने बड़ी असुविधा खड़ी हो जाती है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी तो समय की पाबन्दी का ऐसा ध्यान रखते थे कि भेंट के लिए आये हुए बड़े-बड़े शिष्ट-मण्डलों तक को दो मिनट पहले ही उठ जाने का नोटिस दे देते थे। परन्तु प्रातःस्मरणीय महामना मालवीयजी महाराज नियम के अपवाद थे। वे अपनी जेब में जेबघड़ी रखते थे। और उसे देखते भी जाते थे। कई बार घड़ी को बायें हाथ में ही लिये रहते थे, फिर भी किसी स्थान पर निश्चित समय पर नहीं पहुँचते थे। केन्द्रीय धारासभा के अधिवेशनों में दिल्ली-स्टेशन ने कई गाड़ियों का स्वागत किया था, जिनमें महाराज का बिस्तरा आ गया था, परन्तु महाराज स्वयं नहीं थे। मालवीयजी महाराज की लेट-लतीफ़ी इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि कोई उनसे समय पर पहुँचने की आशा भी नहीं रखता था। भारत के वायसराय भी मानते थे कि भेंट का जो समय निश्चित हुआ है, उस पर वे कभी न आयेंगे; और वे जब आयेंगे तभी उन्हें 'रिसीव' करना होगा।

समय पर निश्चित कार्य करने का प्रयत्न तो वे करते थे, परन्तु अपने नवनीत-कोमल हृदय से विवश हो जाते थे। वे किसी कार्य के लिए प्रस्तुत हुए, उसी समय कोई उन्हें अपनी करुण कहानी सुनाने लगा और वे निश्चित कार्य छोड़कर उसका दुःख दूर करने के कार्य में तल्लीन हो गए। लोगों ने उनके इस स्वभाव को समझ लिया था; इसलिए जिन लोगों को महाराज के विलम्ब का सामना करना पड़ता था, वे भी असुविधा के स्थान पर एक प्रकार के आह्लाद का अनुभव करने लगे थे।

एक दिन बड़े संकोच के साथ उनकी सेवा में जब यह निवेदन किया कि "महाराज, लोग यह कहते हैं कि आप नियत समय पर कहीं नहीं पहुँचते।" तब उन्होंने अपनी चिरप्रफुल्ल मुद्रा में कहा, "लोग ठीक कहते हैं। यह मेरा एक बड़ा दुर्गुण हो सकता है; परन्तु मैं विवश हूँ। मेरे सामने जो कार्य अतिथि की

भाँति अकस्मात् आ जाय, उसे निपटाये बिना मैं किसी निश्चित कार्य में भी मन नहीं लगा सकता।"

तब मैंने कहा, "महाराज, यह तो ठीक है; परन्तु कार्य का महत्त्व भी देखना होता है।" वे कहने लगे—"सब कार्य एक-जैसे ही हैं। तुम कहोगे, निश्चित समय पर वाइसराय से भेंट करना आवश्यक है। मैं समझता हूँ कि उसी समय जो बुढ़िया रोती हुई आ गई, उसके आँसू पोंछना आवश्यक है। वायसराय से भेंट करके जो सेवा होगी, वह शायद कोई और कर ले। भगवान् ने उसके आँसू पोंछने का काम तो दरवाज़े पर ही भेज दिया है। इसकी उपेक्षा कैसे की जाय? अब यदि वायसराय से मिलने वाला कार्य मुझे ही करना है तो भगवान् के संकेत से वह कार्य अवश्य मेरी प्रतीक्षा करेगा। उस कार्य के होने का उचित समय भी वही होगा; तभी तो भगवान् ने मेरे सामने एक और सेवा उपस्थित कर दी है। काम सब भगवान् के ही हैं। सब एक-जैसे ही हैं। मनुष्य इस संसार में भगवान् के कार्य ही करने आया है वही मैं करता रहता हूँ। भगवान् को जब जो काम करवाना होता है, करवा लेते हैं।"

महाराज के श्रीमुख से जब ये शब्द निकल रहे थे, तब ऐसा मालूम होता था, मानो वे अपने किसी स्वभाव की नहीं, अपने सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या कर रहे हैं। उनके इस उत्तर में उनके पूरे जीवन का रहस्य निहित है।

प्राणिमात्र की सेवा ही उनका धर्म था। इसी धर्म का पालन करने के लिए वे निरन्तर कर्म करते रहते थे। इसीलिए वे इतने सर्वप्रिय थे कि अजातशत्रु माने जाते थे और स्वयं भी कहते थे कि "मैंने अब तक अपनी वाणी से किसी को कोई कड़ी बात नहीं कही।" यही उनके जीवन की सर्वांगीण सफलता का रहस्य था और आधुनिक विचारकों की भाषा में कहा जाये तो यही उनके जीवन की राजनैतिक असफलता थी। वे प्रत्येक स्थान पर उतनी ही देर ठहरे, जितनी देर उस स्थान पर उन्हें अपनी आवश्यकता जान पड़ी। वे कोई पार्टी नहीं बना सके, जिसकी आज की छल-प्रपंचपूर्ण राजनीति में सबसे बड़ी आवश्यकता होती है।

—भगवतीप्रसाद 'माधव'

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः !

१९३५ में एक दिन कुछ विद्यार्थी काशी-विश्वविद्यालय के मुसलमान विद्यार्थियों की ओर से मुसलमानी त्यौहारों पर छुट्टी होने की माँग लेकर महामनाजी से मिलने उनके निवास-स्थान पर गये। उन दिनों वे बीमार थे, किन्तु हम लोगों से अपनी सहज मुस्कान और स्नेह के साथ ही मिले। हमने अपने आने का उद्देश्य बताकर उन्हें एक लिखित दरख़ास्त दी। उन्होंने फ़ौरन ही हमारी बातों में दिलचस्पी ली और पूछा—"तुम लोगों ने अपनी दरख़ास्त में पैग़म्बर के जन्म-दिवस की छुट्टी क्यों नहीं माँगी ?" हम लोगों के शर्माने का मौक़ा था, पर थोड़ी ही देर के लिए, कि उसी साँस में मालवीयजी समझाने लगे कि ईमानदारी और सम्पूर्ण रूप से अपने-अपने धर्मों का पालन कितना आवश्यक है। उन्होंने कहा कि "एक बार मैं रघुजी वैद्य की गली की ओर जा रहा था कि मेरे गाड़ी-चालक ने एकाएक गाड़ी रोक दी। कुछ मिनटों तक जब गाड़ी आगे नहीं बढ़ी, तो मैंने उससे गाड़ी रोक देने का कारण पूछा। उसने गली में खड़ी हुई एक घोड़ा-गाड़ी की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैंने देखा कि किनारे पर गाड़ी रोककर कोचवान पटरी पर नमाज़ पढ़ रहा था।" यह कहकर उन्होंने पूछा—"तो क्या यह उससे अधिक पढ़े-लिखे लोगों के लिए एक सबक़ नहीं है ?" एक के बाद अनेकों महत्त्वपूर्ण और शिक्षाप्रद संस्मरण इसी तरह के वे सुनाते रहे और बाद में उन्होंने विश्वविद्यालय की प्रबन्धकारिणी समिति के समक्ष ज़ोरदार शब्दों में हम लोगों की माँग को रक्खा और उसे स्वीकृत कराया। मालवीयजी कट्टर धार्मिक महापुरुष थे। धार्मिकता और साम्प्रदायिकता एक चीज़ नहीं हैं। सच्चा धार्मिक व्यक्ति साम्प्रदायिक हो ही नहीं सकता। वह ईमानदार जो होता है !

—इश्तियाक हुसेन

प्रकृति-सिद्ध महामना

ये दीनेषु दयालवः स्पृशति यानल्पोपि न श्रीमदो
व्यग्रा ये च परोपकारकरणे तुष्यन्ति ये याचितः।
स्वस्थाः सन्त्यपि यौवनोदयमहाव्याधिप्रकोपोदये,
ते भूमण्डलमण्डलैकतिलकाः सन्तः कियन्तो जनाः ।।

चि० पं० मदनमोहन मालवीय से मेरा प्रथम परिचय उस अवसर पर हुआ जब वे घोड़े पर सवार हो दूल्हा बनकर मिर्जापुर-निवासी पं० नन्दरामजी के यहाँ पधारे थे। महादेव की इमली के नीचे वाला वह दृश्य मेरे हृदय-पटल पर आज भी अंकित है। मैं उन दिनों गवर्नमेंट हाई स्कूल, मिर्जापुर के संस्कृत-विभाग में संस्कृत-साहित्य के धुरन्धर विद्वान् स्व० पं० गदाधरप्रसाद मालवीय की अध्यक्षता में संस्कृत पढ़ता था। उक्त पंडितजी मालवीयजी के चाचा थे। मालवीयजी की बारात में शामिल होने का सौभाग्य मुझे इन्हीं के शिष्यवर्ग के साथ प्राप्त हुआ था।

मिर्जापुर में शिक्षा समाप्त करके मैं श्री १००८ स्वामी श्री दयानन्दजी सरस्वती महाराज के साथ आनन्दबाग़, बनारस में रहने लगा।

मालवीयजी से मेरा दूसरा स्मरणीय सम्पर्क प्रयाग के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० पं० सरयूप्रसाद मिश्र के यहाँ हुआ था। मैं स्वामीजी का काम छोड़कर प्रयाग चला आया था और चिकित्सा का कार्य करने लगा था। पं० सरयूप्रसाद मेरी चिकित्सा में थे और मालवीयजी उनके यहाँ आया-जाया करते थे। मालवीयजी भी रक्तपित्त की बीमारी में ग्रस्त थे। पं० सरयूप्रसाद की सलाह से उन्होंने मेरी चिकित्सा आरम्भ कर दी। मुझे खूब स्मरण है कि इस बार मैंने बहुत दिनों तक मालवीयजी की दवा की थी, मगर किसी प्रकार उनका रोग दूर ही न होता था; फिर भी मदनमोहन का विश्वास मेरे ऊपर अटल था।

घर वाले उनसे नाराज़ होते थे, कहते थे, "शिवराम की दवा मत करो। वे तुम्हारा बहुत-सा रुपया खर्च कराते हैं और तुमको ठगते हैं।" उनको मदन-मोहन का उत्तर विलक्षण था। वे लोगों से यही कहते कि "मेरे ही कुपथ्य से मेरा रोग नहीं छूट रहा है। शिवरामजी की चिकित्सा में और उनकी आदमी-यत में कोई कमी नहीं है।"

मगर घरवाले चिन्तित थे। उनकी चिन्ता भी अकारण न थी। वे मुझसे मिलते थे और सचिन्त होकर पूछते थे कि 'क्या कारण है कि मदनमोहन आप की दवा में इतने दिनों से हैं मगर अभी तक आरोग्य नहीं हुए? अवस्था में परिवर्तन का भी कोई चिह्न उनमें नहीं मिल रहा है।' मैं भी परेशान था। मेरी दवा में रोग दूर करने की शक्ति ज़रूर थी मगर पथ्यहीन को पथ्य से रहने के लिए विवश करने की ताक़त उसमें न थी। मैंने मालवीयजी के घरवालों से कहा कि इनकी बोलने की आदत बहुत चढ़ी-बढ़ी है। जब तक यह आदत न छूटेगी, तब तक मुँह से खून का जाना बन्द न होगा। मगर मदनमोहन को बोलने का नशा था। चेष्टा करने पर भी वे बोलना छोड़ न सकते थे।

मदनमोहन के बड़े भाई लक्ष्मीनारायण को मेरी सलाह जँच गई। फिर क्या था, वे छड़ी लेकर मदनमोहन के साथ रहने लगे। एक दिन ऐसा हुआ कि मदनमोहन से एक बड़े सम्मानित व्यक्ति मिले। उस अवसर पर मैं भी मदनमोहन के पास उपस्थित था। उस प्रतिष्ठित व्यक्ति और मदनमोहन में बातें होने लगीं। प्रहरी पं० लक्ष्मीनारायण भी छड़ी लिये मौजूद थे। जब उन्होंने देखा कि बातचीत का ताँता अब पथ्य से रहने की सीमा का उल्लंघन कर रहा है, तब उन्होंने इशारे से मदनमोहन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। मदनमोहन तो लीन थे। उन्हें पथ्यापथ्य की कोई परवाह न थी। लाचार होकर लक्ष्मीनारायण को कहना पड़ा, 'बस भाई!' उस समय मदनमोहन को बहुत बुरा लगा। वे झुँझला गए। वे यह कहते हुए वहाँ से चल दिये, "हमें ऐसी दवा की ज़रूरत नहीं।" मगर पं० लक्ष्मीनारायण पर उनकी इस झुँझला-हट का कुछ भी असर न पड़ा। उन्होंने छड़ी लेकर मदनमोहन के साथ रहना न छोड़ा।

'हिन्दुस्तान' की सम्पादकी

यमुना-किनारे महाराजा बनारस की कोठी में मदनमोहन के उद्योग से मध्य हिन्दू-समाज का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिवेशन हुआ था। जलसा तीन दिन तक होता रहा और उसकी चहल-पहल कांग्रेस के अधिवेशन की चहल पहल से कम न थी। उस समय अनेक पाश्चात्य देशों की सैर के बाद काला-कांकर-नरेश स्व० राजा रामपालसिंह प्रयाग पधारे थे। वे भी मध्य हिन्दू समाज के जलसे में शरीक हुए। इस अधिवेशन के अध्यक्ष बरावाधिपति वैष्णववर श्री महावीरप्रसादजी निर्वाचित हुए थे। पं० लक्ष्मीनारायण व्यास वैद्य के प्रस्ताव से उन्होंने सभापति का आसन ग्रहण किया था। राजा रामपालसिंह सभापति के कार्य में अनेक व्यंग्यपूर्ण दख़ल इस रूप में दे रहे कि जो मदनमोहन को बुरा लग रहा था। राजा साहब कभी-कभी कह उठते, "चूँकि हमारे प्रेसीडेन्ट साहब अच्छी तरह कम बोलते हैं इसलिए उनकी तरफ से कह कर मैं कमी-वेशी की पूर्ति किये देता हूँ।" इस भूमिका के उपरान्त वह एक भाषण करने लगे। इस प्रकार के अबाध दख़ल से मदनमोहन ही नहीं, और भी अनेक लोग असन्तुष्ट थे। पर राजा साहब का नाम बड़ा था और उनको रोकने की हिम्मत ही किसमें थी ! पर अनुचित कार्यवाही को मदनमोहन कैसे बर्दाश्त कर लेते ! ऐसी कार्यवाही के विषय में खड़े होकर राजा साहब के कान में कुछ कहते हुए मदनमोहन कई बार देखे गए थे। वे राजा साहब को रोकते थे, मगर राजा साहब जवाब में मुस्करा देते थे।

जलसा समाप्त होने पर राजा साहब ने अपने 'हिन्दुस्तान' नामक पत्र में मध्य हिन्दू समाज के इस अधिवेशन की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि अधिवेशन पूर्ण सफल रहा, मगर उसमें दो-एक लौंडे ढीठ थे कि वे बड़े-बड़े राजा-रईसों और बावदूकों (वक्ताओं) को व्याख्यान देते समय उनके कान में सलाह देने की धृष्टता करते थे।

इस लेख में मदनमोहन के प्रति राजा साहब की नाराज़गी पूर्ण रूप से स्पष्ट थी। मगर यह अल्पकालिक ही थी। इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद राजा साहब की गुणग्राहकता और उदारता ने उनको मदनमोहन से मिलने की कोशिश करने और उन्हें अपने पत्र 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक बनाने के लिए

विवश किया। मदनमोहन २५० रु० मासिक पर राजा साहब के यहाँ 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक नियुक्त हो गए।

राजा साहब पर मालवीयजी के सहवास का जबर्दस्त असर पड़ा। उनका नशा-पानी और अनेक आदतें बिलकुल छूट गईं। एक दिन का ज़िक्र है कि हिन्दू समाज की बैठक थी और उसमें 'कान्सैंट बिल' पर विचार हो रहा था। इस बैठक में प्रयाग के प्रतिष्ठित वकील मुं० हनुमानप्रसादजी भी उपस्थित थे। मुंशीजी ने ख़ानगी तौर पर मदनमोहन से कहा, "महाराज, आप इन दिनों कालाकांकर के यहाँ पहुँच गए हैं। आपके सहवास से अवश्य ही राजा साहब का खान-पान और रहन-सहन बहुत पवित्र हो जायेगा।" इस अवसर पर बा० चारुचन्द्र मित्र और मुंशी काशीप्रसाद भी समाज में उपस्थित थे। इन्हीं उपस्थित मित्रों में से कोई बोल उठा, "इनके संग पान तो राजा साहब ने बिल्कुल ही बन्द कर दिया।"

सम्पादक बनने के बाद मदनमोहन का अधिकांश समय 'हिन्दुस्तान' के सम्पादन में ही लगता था, मगर उससे भी समय बचा कर वे वकालत का अध्ययन करते थे। उन दिनों रायबहादुर पं० बलदेवरामजी दूबे जान्सनगंज में रहते थे। उन्हीं के कोठे के बड़े कमरे में रोज़ जाकर मालवीयजी क़ानून का अध्ययन करते थे। बलदेवरामजी की मदद से उन्होंने वकालत पास कर ली, परन्तु वकालत पास करने के पहले ही से मदनमोहन के पास मुक़दमे आने लगे थे। मदनमोहन इस समय तक काफ़ी प्रसिद्ध हो चुके थे।

अपने गुरु पं० बेनीरामजी कान्यकुब्ज के साथ काम सीखकर मदनमोहन ने स्वतन्त्र रूप से वकालत शुरू कर दी। वकालत से पहली आमदनी ९ रु० हुई थी। यह आमदनी, मुझे स्मरण है कि, मुझे भी शुरू-शुरू में ९ रु० ही की हुई थी।

जब से मदनमोहन ने 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन करना शुरू किया था, तब से राजा साहब उनको २५० रु० मासिक बराबर देते रहे। मदनमोहन की वकालत जब चलने लगी, तब बार-बार इनकार करने और मना करने पर भी राजा साहब हर मास २५० रु० मदनमोहन के पास भेज दिया करते थे।

एक दिन मदनमोहन ने राजा साहब से कहा कि "महाराजा, अब तो मैं आपका कुछ काम नहीं करता। आपकी नौकरी में भी नहीं हूँ।" 'नौकरी में' इन शब्दों से राजा साहब रुष्ट होकर बोले, "मालवीयजी, क्या आपने कभी मेरे मन में या बर्ताव में अपने साथ या किसी के साथ नौकर का भाव पाया है? आपके पास विद्या है और आप गुणों की खान हैं। उसके द्वारा आप मेरी सहायता करते हैं और मैं भी थोड़े पैसों से आपकी सहायता करता हूँ। मुझे आप-जैसे बुद्धिमान् पुरुष के मुँह से ऐसी बात सुनकर बहुत दुःख हुआ। ऐसी बातें आपको शोभा नहीं देती हैं।"

इस तरह की फटकार राजा साहब के उपयुक्त ही थी। गुणवान् की परख करना राजा साहब का खास गुण था। दवा के सम्बन्ध में राजा साहब से मेरा सम्पर्क हुआ था। उनकी यह विशेषता थी कि एक बार जिस आदमी से उनकी पट जाती थी, उस आदमी से वह सदा के लिए एक सम्बन्ध क़ायम रखने की कोशिश करते थे।

कुत्ते की सुश्रूषा

एक बार मदनमोहन बिजली की तरह मेरे घर आ धमके। वे बहुत जल्दी में थे। बोले, "एक कुत्ते के कान के पास कान से ही मिला हुआ एक बड़ा घाव है। घाव में कीड़े पड़ गए हैं। उसकी दवा बतलाइये!" मैंने एक अंगरेज़ी दवा बतायी और इस सम्बन्ध में सलाह के निमित्त डाक्टर अविनाश के यहाँ गया। उनसे सारा हाल कहा। अविनाश हँस पड़े। बोले, "आपकी तजवीज़ की हुई दवा ठीक है।" मदनमोहन मेरे यहाँ से होकर दौड़े हुए वापस कुत्ते के पास गये।

उनके साथ में बहुत-से स्कूली लड़के भी थे। कुत्ता मक्खियों के डर से टट्टर की आड़ में दुःखी होकर बैठा था। मदनमोहन ने एक बाँस में कपड़ा लपेट कर उसे दवा से तर किया और दूर से कुत्ते के घाव में दवा लगाना शुरू किया। कुत्ता भयंकर स्वर से गुर्राता और भूँकता था। वह दवा लगाने वाले को डरा कर भगा देना चाहता था। पर मदनमोहन भी अपनी धुन के पक्के थे। वे चुपचाप दवा लगाते जाते थे। दवा लगाने के बाद कुत्ते को आराम

मिला और चिल्लाता हुआ कुत्ता थोड़ी देर में आराम से सोने लगा। ऐसा दुःखी कुत्ता पागलपन की अवस्था में रहता है। उस समय मदनमोहन की धुन में भी पागलपन का ही पुट था। अविनाश की हँसी का यह एक माकूल कारण था। अविनाश डाक्टर थे, इसलिए ऐसी कार्यवाही पर हँस सकते थे; पर उस दुःखी कुत्ते के दुःख को अनुभव करने और उसके दुःख को दूर करने की व्याकुलता से तड़पने के लिए एक ऐसे हृदय की ज़रूरत है जो मदनमोहन-जैसे कुछ थोड़े प्रतिभा-सम्पन्न महानुभावों को ही प्राप्त है।

अहिंसा-प्रेम

मदनमोहन का 'स्वदेशी-प्रेम' बहुत पुराना है। बा० राधाकृष्ण खत्री और बा० हरदेवप्रसादजी वग़ैरह के द्वारा प्रयाग में बड़े धूम-धाम से देशी तिजारत कम्पनी खुलवा चुकने के उपरान्त एक दिन मदनमोहन मेरे पास आये और स्वदेशी वस्तुओं के विषय में बातचीत होने लगी। मालूम हुआ कि मदनमोहन के हिंसाविरोधी हृदय को एक नवीन व्याघात पहुँचा है। मदनमोहन ने कहा, "जूतों के कारण लाखों दीन और बेगुनाह पशुओं की जान मारी जाती है। चमड़ों के लिए असंख्य पशुओं के मारे जाने का तरीक़ा डाक्टर जयकृष्ण व्यास ने मुझे बताया। चिन्ता हो रही है कि किस प्रकार इन ग़रीब पशुओं के जीवन की रक्षा की जाय ?"

बाबू राधाकृष्ण गुप्त ने कहा, "बाबूजी, मैंने तो चमड़े का जूता पहनना छोड़ दिया है। देखिये, कपड़े का जूता बनवाया है। कागज़ का बोर्ड भी ऐसा मज़बूत बनाया जा सकता है कि उससे गाड़ी का पहिया बन सकता है ऐसा मैंने सुना है।" बाबू राधाकृष्ण के दामाद सागर के हैडमास्टर राजाबाबू भी उपस्थित थे। मदनमोहन के चले जाने के बाद उन्होंने पूछा, कि ये साहब कौन हैं? जवाब मिला कि ये मदनमोहन मालवीय हैं। राजाबाबू ने कहा इनकी बातें तो बिलकुल पागलपने की हैं। भला कहीं कागज़ के बोर्ड और कपड़े के द्वारा जूते बन सकते हैं और उनसे काम चल सकता है!

इसी सम्बन्ध में मदनमोहन के निर्मल हृदय, अहिंसा-प्रेम और दया-भाव की देर तक प्रशंसा होती रही; मगर फिर भी राजाबाबू की धारणा यही

रही कि मालवीयजी पागल हैं और ऐसा आदमी दुनिया में किसी काम का नहीं। दुनिया अपनी धारणाएँ नित्य बनाती-बिगाड़ती रहती है, परन्तु महापुरुष अपनी लगन के पक्के होते हैं।

पितृस्नेह

मदनमोहन के पिता भगवद्भक्ति-प्रचारक विद्वद्वर पं० ब्रजनाथजी मालवीय ने 'सिद्धान्तोत्तम' नाम का एक ग्रन्थ बड़े परिश्रम से लिखा था। उसके छपने के सम्बन्ध में एक दिन मदनमोहन ने मुझसे कहा कि "बाबूजी की उम्र अब बहुत अधिक हो रही है। कदाचित् वे स्वर्गवासी हो गए और उनके सामने 'सिद्धान्तोत्तम' ग्रन्थ न छप सका तो मुझको अधिक कष्ट होगा। इसलिए जहाँ तक हो सके, उसे बहुत शीघ्र अपने प्रेस में छपाने का प्रयत्न कीजिये।"

ग्रन्थ को प्रकाशित देखकर पं० ब्रजनाथजी को बड़ी प्रसन्नता हुई। पिता की प्रसन्नता ने मदनमोहन के आह्लाद को कई गुना बढ़ा दिया।

सर सुन्दरलाल और मदनमोहन

सर सुन्दरलाल धुरन्धर विद्वान् और विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी बहुत सीधे-सादे व्यक्ति थे। उनकी प्रतिभा और यश में स्वतः वृद्धि हुई। स्वयं उन्होंने कभी अपने गौरव की वृद्धि के लिए प्रयत्न किया हो, ऐसा मैंने नहीं देखा। परन्तु मदनमोहन में आदमी पहचानने और उससे उपयुक्त काम लेने की विलक्षण शक्ति थी। मदनमोहन सर सुरन्दरलाल की योग्यता के क़ायल थे। उनके मन में आया कि अगर ऐसा योग्य व्यक्ति कहीं कौंसिल में पहुँच जाय तो देश की महती सेवा हो सके। मदनमोहन को धुन सवार हो गई और चारुचन्द्र मित्र के विरुद्ध सुन्दरलाल को कौंसिल का उम्मीदवार खड़ा कर दिया। मदनमोहन चारुचन्द्र मित्र को अपना बुजुर्ग और बड़ा समझते थे। पर जब एक धुन सवार हो गई, तब प्रश्न सामने यही था कि पं० सुन्दरलाल कौंसिल में पहुँच जायँ।

मदनमोहन के अनेक बुजुर्ग और इष्ट-मित्र मुं० कुञ्जबिहारीलाल वग़ैरह उनकी इस कार्यवाही पर बेहद नाराज़ थे। वे कौंसिल में पं० सुन्दरलाल का

पहुँचना गवारा न कर सकते थे। उन दिनों राजनैतिक और सामाजिक गोष्ठी का नेतृत्व 'हिन्दी प्रदीप' के प्रसिद्ध ऐडीटर पं० बालकृष्णजी भट्ट के हाथ था। भट्टजी के पास सब लोग एकत्र होकर पं० सुन्दरलाल की उम्मीदवारी के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाते थे और इस सम्बन्ध में मदनमोहन को गालियाँ भी देते थे।

मदनमोहन के ऊपर भट्टजी का प्रेम विशेष था, इसलिए उनको स्वतन्त्र झिड़कियाँ और गालियाँ देने का भी अधिकार था। वे झल्ला कर कहते, "क्यों रे मदनमोहन! तुझे यह क्या सूझा है? पं० सुन्दरलाल ने प्रजाहित का कौन-सा काम किया है? प्रजाहित-साधन में यह कभी भाग नहीं लेते, तब तू क्यों उनकी तरफदारी करता है और उनको कौंसिल में भेजने के लिए प्रयत्न करता है? तू चारू का विरोध करता है जिसने अपनी सारी ज़िन्दगी लोक-सेवा में बिता दी और जो तेरे बड़े खैरख्वाह भी हैं।"

मदनमोहन ने भट्टजी को पं० सुन्दरलाल की योग्यता और कर्मपरायणता के विषय में बड़ी नम्रता से समझाया, पर भट्टजी धुरन्धर विद्वान् ही नहीं, अपने मत को दृढ़ता से पकड़ने वाले भी थे। वे नाराज़ होकर कहते, "तू जो चाहे कर, पर इनको कौंसिल में जाने का कोई हक़ नहीं है। तू इनके पीछे काहे पड़ता है, तू अपने लिए क्यों नहीं प्रयत्न करता?"

मदनमोहन मुस्कराकर कहते, "भट्टजी, मेरा अभी कौंसिल जाने का समय नहीं आया।"

कुछ दिनों तक कौंसिल के उम्मीदवारों के सम्बन्ध में इस तरह की टीका-टिप्पणी गोष्ठी में होती रही। बाद को इनके तरफदारों ने अखबारों में यह चर्चा छेड़ दी और दोनों तरफ से भद्दे और कुरुचिपूर्ण लेख प्रकाशित होने लगे। मगर यह सब पं० सुन्दरलाल और चारुबाबू के तरफदारों की ओर से हो रहा था। पं० सुन्दरलाल तो स्वयं कौंसिल में जाना पसन्द न करते थे, केवल मदनमोहन का अनुरोध उन्हें घसीटे लिये जा रहा था। जब थुक्का-फज़ीहत के इस आन्दोलन ने अखबारों में ज़ोर पकड़ा, तब एक दिन पं० सुन्दरलाल बा० चारुचन्द्र मित्र से मिले और विनीत भाव से कहा, "बाबूसाहब! ये जो

अखबारों में भद्दे लेख छप रहे हैं, उनमें मेरा कुछ भी हाथ नहीं है। मेरी कौंसिल में जाने की तनिक भी इच्छा नहीं है। यह मालवीयजी वग़ैरह का हठ है जो मुझको भेजने का प्रयत्न कर रहे हैं और उन्हीं के हठ के कारण मैं कौंसिल के लिए खड़ा हूँ। चारुचन्द्र मित्र भी पंडितजी के शील-स्वभाव से अभिज्ञ थे। उन्होंने जवाब दिया, "पंडितजी, क्या मैं इतना भी नहीं जानता कि आप इस तरह की कार्यवाहियाँ कब पसन्द कर सकते हैं ! मगर कौंसिल के चुनाव में ऐसे भद्दे आन्दोलन होते ही रहते हैं।"

अन्त में मदनमोहन का प्रयत्न सफल हुआ और पं० सुन्दरलाल कौंसिल के मेम्बर हो गए। कौंसिल का मेम्बर हो जाना एक साधारण घटना थी, मगर पं० सुन्दरलालजी पर इसका स्थायी असर पड़ा। इस घटना के बाद पं० सुन्दरलाल देश के कामों में हाथ डालने लगे और उनके द्वारा ऐसे अनेक उपयोगी काम हुए हैं जो सदा सर सुन्दरलाल की कीर्ति को अमर बनाये रहेंगे।

सर सुन्दरलाल के कौंसिल-प्रवेश के बहुत पहले से ही उनके भाई रायबहादुर पं० बलदेवरामजी दूबे देश के काम में मदनमोहन की सहायता किया करते थे। कांग्रेस के कामों में चारुचन्द्र के समान वह भी बहुत परिश्रम किया करते थे और हर बात में अगुआ बनकर ज़ोर-शोर से काम करते थे। हिन्दू यूनिवर्सिटी के कार्यों में भी बलदेवरामजी शुरू से ही बड़ी धूमधाम से सहायता और मदद दे रहे थे। हिन्दू-यूनिवर्सिटी के काम में सर सुन्दरलाल के घराने से मदनमोहन को प्रशंसनीय सहायता मिलती आ रही थी। सर सुन्दरलाल ने यूनिवर्सिटी को एक लाख रुपया दान दिया और स्वयं प्रथम वायस चांसलर का पद ग्रहण किया था। इस समय भी उनके भाई जस्टिस पं० कन्हैयालाल जी हिन्दू-यूनिवर्सिटी के अनेक काम बड़ी दक्षता से कर रहे हैं। इसका श्रेय मनुष्य की पहचान और उससे काम लेने के सम्बन्ध में मदनमोहन की विलक्षण योग्यता को है।

मदनमोहन और पं० विश्वम्भरनाथ

प्रयाग में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था और उसकी स्वागतकारिणी सभा के अध्यक्ष चुने गए थे प्रयाग के प्रतिष्ठित रईस पं० विश्वम्भरनाथजी।

वे प्रयाग के धुरंधर विद्वान् और वकील पं० अयोध्यानाथ कुँजरू के सम्बन्धी थे। संयोग ऐसा हुआ कि उनको वातव्याधि हो गई। वे मेरी चिकित्सा में थे और कांग्रेस के अधिवेशन के दिन भी नज़दीक थे। उनकी हालत ऐसी न थी कि वे स्वागतकारिणी सभा का काम कर सकें और कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर ऊँचे मंच पर खड़े होकर स्वागत-भाषण कर सकें। पं विश्वम्भरनाथजी की इस हालत के कारण प्रयाग के कांग्रेसियों में बड़ी खलबली मची हुई थी। मदनमोहन भी बहुत उद्विग्न थे। एक दिन मदनमोहन घबराये हुए मेरे कोठे पर आये। उनकी आँखों में अश्रुकण झलक रहे थे और वे विह्वल एवं कातर स्वर से पं० विश्वम्भरनाथजी के विषय में चर्चा कर रहे थे। मैं भी घबड़ा गया। पूछा, "क्या है ?" बोले, "भाई ! बूढ़े ब्राह्मण को जल्दी आरोग्य करो ! अगर वे कांग्रेस के मंच पर खड़े होने लायक न रहे तो उनकी मौत तो हुई ही समझो, हम लोगों का सर्वस्व भी नष्ट हो जायेगा।"

मैंने ढाढस देकर कहा, "भाई, घबराओ मत, घबराने से काम बिगड़ जाता है। पंडितजी के विषय में चिन्ता मत करो। वे अवश्य ही तब तक इस प्रकार आरोग्य हो जायेंगे कि स्वागत-भाषण अच्छी तरह कर सकें।"

वही हुआ भी ; पं० विश्वम्भरनाथजी कांग्रेस के सम्बन्ध में अपने कर्तव्य का पालन बहुत अच्छी तरह कर सकने में समर्थ हो गए। पंडितजी कांग्रेस के अधिवेशन में उपस्थित हो सके, मगर उनके स्वास्थ्य की तरफ मित्रों की चिन्ता दूर न हुई। इस विषय में चारुबाबू अत्यन्त सतर्क थे। उनका खयाल था कि पंडितजी का स्वास्थ्य बहुत सुकुमार है और ऐसी परिस्थिति में उनके पास वैद्य का रहना ज़रूरी है। उनको इस प्रबन्ध से विशेष ढाढस और दिलासा का बल भी रहेगा। चारुबाबू ने मुझे कांग्रेस के अधिवेशन में उपस्थित होकर पं० विश्वम्भरनाथजी के पास बैठने के लिए बाध्य किया। चारुबाबू लड़कों की तरह मेरा हाथ पकड़कर मुझे घसीटते हुए ले गए और स्वागतकारिणी सभा के अध्यक्ष की कुर्सी के पास बिठा दिया। पर साधारण परिस्थिति में वह कुर्सी मेरे लिए न थी, अतएव मदनमोहन ने मुझे वहाँ से उठाकर दूसरी कुर्सी पर बैठा दिया। जब चारुबाबू ने मुझे दूर बैठा देखा, तब लपक कर मेरा हाथ पकड़ते और घसीटते हुए फिर ले जाकर मुझे वहीं बैठा दिया। मैं अजीब परिस्थिति में था। मैं उनसे कहता कि मुझे दूर ही बैठने दीजिये, मदनमोहन को मेरा

यहाँ बैठना पसन्द नहीं है। मगर वह क्यों मानने लगे ! वह मदनमोहन को बुरा-भला कहकर फिर मुझे ले जाकर विश्वम्भरनाथजी के पास बैठा आते व पं० विश्वम्भरनाथ मेरे साथ बड़े सत्कार के साथ पेश आते थे। दूसरे दिन मदनमोहन और चारुबाबू ने परामर्श करके मेरे बैठने के स्थान का परिवर्तन कर दिया और पंडितजी के पास ही मेरे बैठने का प्रबन्ध कर दिया।

कांग्रेस की बैठक के दो-तीन दिन पहले ही पं० विश्वम्भरनाथ ने मदनमोहन को अपना लिखित स्वागत-भाषण देकर कहा, "मालवीयजी, इसको आप एक बार पढ़ लीजिये, लेकिन मेहरबानी करके इस पर क़लम न चलाइयेगा।"

मदनमोहन ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया, "महाराज, भला मेरी यह सामर्थ्य कहाँ कि मैं आपके लेख पर क़लम चला सकूँ !"

बड़ों के प्रति सर्वदा इस प्रकार विनीत भाव रखना ही मदनमोहन के बड़प्पन का प्रधान गुण है।

हिन्दू-समाज की बैठक

मदनमोहन के गुरु महामहोपाध्याय पं० आदित्यराम भट्टाचार्य स्थानीय म्योर सैण्ट्रल कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे। उन्होंने प्रयाग में हिन्दू-समाज की स्थापना की थी। उसकी बैठक हर सप्ताह मुंशी काशीप्रसादजी के मकान पर हुआ करती थी। मदनमोहन समाज के प्रमुख सदस्यों में से थे। उन दिनों समाज-सेवा के कामों में मदनमोहन का प्रवेश नया ही था। मैं भी समाज की बैठक में जाया करता था। मुझे खूब स्मरण है कि अड़चन में डालने वाली समाज-सम्बन्धी लिखा-पढ़ी करने से जब लोग मुख मोड़ लेते थे, तब मदनमोहन कह बैठते थे, "इस काम को आप लोग मुझे सौंप दीजिये ; मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा, करूँगा।" तब सब लोग एक स्वर से कह उठते, "ठीक है, ठीक है, बहुत ठीक है, मालवीयजी इस काम को बहुत अच्छी तरह कर सकेंगे।" मदनमोहन इस प्रकार जिस काम को अपने हाथों में लेते थे, उसे पूरा करके छोड़ते थे। सभा-कमेटियों में इनके भाषण करने की योग्यता विशेष थी और इनके बोलने के तर्ज़ को सभी पसन्द करते थे। परन्तु सबको इनकी विलक्षण शक्तियों

का ज्ञान न था। इनके नये होने और कम-उम्र होने के कारण कुछ लोगों को इनका बड़े कामों में हाथ डालना अच्छा भी न लगता था। मोरो गणेश (मोरोपंत) उन दिनों हिन्दू-समाज के सेक्रेटरी थे। कई बार उनकी बातों से मुझे यह विदित हुआ कि वे मदनमोहन के वादविवाद को लड़कपन से भरा हुआ, अवस्था कम होने के कारण शोभाहीन, एवं छोटे मुँह बड़ी बात समझते थे। उस समय किसी को क्या मालूम था, मदनमोहन के उस बचपन के शरीर में कैसी विलक्षण प्रतिभासम्पन्न आत्मा छिपी थी!

मदनमोहन और रा० ब० लाला रामचरनदास

मदनमोहन में बचपन से ही एक जबर्दस्त हठ यह थी कि जिस बात को वे उचित और सच समझते थे, उससे उनको कभी कोई डिगा नहीं सकता था। इस सम्बन्ध में वे बड़ों की झिड़कियों की भी परवाह न करके अपने मत पर क़ायम रहते थे। एक बार रायबहादुर लाला रामचरनदासजी और इनमें बहुत कड़ाई के साथ जवाब-सवाल हो गया। रायबहादुर साहब को क्रोध आ गया था और उन्होंने मदनमोहन को फटकार कर कहा, "तुम नहीं जानते कि तुम कौन हो!" मदनमोहन का उत्तर बहुत सादा था। उन्होंने कहा, "मैं खूब जानता हूँ, कि आप बहुत बड़े आदमी हैं और मैं छोटा हूँ; मगर मेरी बात सही है और इस क़ाबिल नहीं है कि वह काटी जाय।"

मदनमोहन की यही दृढ़ता बनी रही, मगर रायबहादुर साहब में परिवर्तन हो गया। बाद को वे ही रायबहादुर साहब मदनमोहन को लड़कों की तरह प्यार करने लगे थे और मदनमोहन जिस काम के लिए भी उनको पकड़ लेते थे, वह रायबहादुर को करना ही पड़ता था। प्रयाग में जितनी सभा, कमेटी और कांग्रेस वग़ैरा होती थीं, उसमें रायबहादुर साहब का ही इन्तज़ाम रहता था। कभी-कभी मदनमोहन रायबहादुर साहब से इतना अधिक काम लेते थे कि वे झुँझला जाते थे और कहते थे कि 'भाई, मालवीय तो मुझको बहुत तंग करते हैं।' हिन्दू-यूनिवर्सिटी की स्थापना के सम्बन्ध में मदनमोहन ने राय-बहादुर लाला रामचरनदास से एक लाख रुपया लिया था। इस दान की कथा कम रोचक नहीं है।

हिन्दू-यूनिवर्सिटी की स्थापना के सम्बन्ध में बनारस में एक महोत्सव किया गया, जिसमें सारे भारत के राजे-महाराजे आये थे। इस उत्सव में मैं भी आमन्त्रित था। बनारस जाने से एक सप्ताह पहले रायबहादुर साहब ने मुझसे कहा कि आप बनारस मेरे साथ चलिये और एक सप्ताह के पहले चलिये। रायबहादुर साहब का स्वास्थ्य ठीक न था, इस कारण उनकी आज्ञा को मान लेना ही मुझे उचित मालूम हुआ और मैं एक सप्ताह पहले ही उनके साथ बनारस के लिए रवाना हो गया। मदनमोहन से जब मुलाक़ात हुई तब उन्होंने कहा कि "रायबहादुर साहब ने केवल पचहत्तर हज़ार रुपये ही चन्दा लिखा है।" मैंने कहा, "मैं कोशिश करूँगा जिससे वे एक लाख पूरा कर दें।" महोत्सव के दो दिन पहले रायबहादुर साहब शाम को मेरे कमरे पर आकर मेरे पास बैठ गए। मुझसे बोले, "लोग मुझे एक लाख पूरा करने को कहते हैं।" तब मैं हँसा, कहा, "आपने बड़ी ग़लती की जो ७५ हज़ार रुपये ही लिखा। कोई जब दान देता है तब एक रुपया देता है, दो देता है, चार देता है, पाँच देता है; मगर तीन कोई नहीं देता। आपने तीन पचीस हज़ार दान देना लिखा है जिससे साफ़ ही मालूम पड़ता है कि आप चाहते हैं कि लोग आपसे कहें कि आप एक लाख पूरा कर दीजिये। वह तो आपको अब देना ही पड़ेगा!"

रायबहादुर साहब ने कहा "क्या कहें जी, हम एक छोटे-से रोज़गारी हैं।"

मैंने कहा, "ये सब व्यर्थ की बातें हैं; आप बहुत जल्द एक लाख रुपया पूरा कर दीजिये।"

रायबहादुर साहब उठकर अपने कमरे में चले गए। दूसरे दिन सवेरा होते ही उन्होंने मुझे ज़ोर से पुकारा और कहा, "जल्दी तैयार हो जाओ, मालवीयजी के यहाँ चलना है।"

मैं झटपट स्नान और संध्या-वन्दन करके तैयार हो गया। रायबहादुर ने फिर पुकारा, कहा, "जल्दी चलो!"

मैं चटपट उनके साथ हो लिया और मदनमोहन के निवास-स्थान पर पहुँचा।

वहाँ मालूम हुआ कि मदनमोहन की तबीयत अच्छी नहीं है और उनसे मिलने के लिए आये हुए अनेक राजे-महाराज कोरे लौटाये जा रहे हैं। हम लोगों को भी यही जवाब मिला कि मालवीयजी आज किसी से न मिलेंगे।

जब हम लोग लौटने लगे तब चि० मुकुन्द मालवीय ने कहा, "आप ज़रा ठहरिये, बाबूजी से आप के आने का समाचार तो कह दें।" थोड़ी देर बाद ही मुकुन्दजी ने लौटकर कहा, "चलिये, आपको बुलाते हैं।" अन्दर जाकर देखा, बहुत-सा गरम कपड़ा पहने मदनमोहन बैठे थे। मैंने इशारे से बताया कि अब लाख पूरा ही हुआ चाहता है। मदनमोहन ने कहा, "हाँ, मालूम तो पड़ता है।" .

इसके उपरान्त एक ही मिनट की बातचीत में रायबहादुर साहब ने ७५ हज़ार के स्थान पर एक लाख रुपये देने का वचन दे दिया। अब एक नयी अड़चन उपस्थित हुई। लाख रुपया देने वाले राजा-रईसों की नामावली वाइसराय महोदय स्वयं महोत्सव में पढ़ कर सुनाने वाले थे और लिस्ट छपकर तैयार हो चुकी थी। मदनमोहन के सामने यह प्रश्न उपस्थित था कि रायबहादुर साहब ने एक लाख रुपया भी दिया, और लाख रुपया देने वाले लोगों की नामावली में उनका नाम भी न आ सका। वाइसराय महोदय उनका नाम किस प्रकार घोषित करेंगे? मदनमोहन ने फ़ौरन अपने प्राइवेट सेक्रेटरी को बुलाया और डेढ़ लाइन की एक इबारत लिखा कर आज्ञा दी कि "तार द्वारा फ़ौरन यह ख़बर हिन्दुस्थान के समस्त अखबारों में भेज दी जाय!" ऐसा ही किया गया और थोड़े ही समय में रायबहादुर साहब का नाम देश के कोने-कोने में गूँजने लगा।

जर्मन प्रोफेसर डा० ड्युसेन और मदनमोहन

बहुत दिन हुए, एक बार प्रयाग में जर्मनी-निवासी, संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् वेदान्तशास्त्र, ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों के धुरन्धर ज्ञाता एवं शांकर वेदान्त के मानने वाले प्रोफ़ेसर ड्युसेन उर्फ देवसन (डयूसन) पधारे। वह एक होटल में ठहरे हुए थे। संस्कृत में बहुत उत्तम भाषण करते थे। उनसे मिलने के लिए पं० लक्ष्मीनारायणजी व्यास, पं० श्रीकृष्ण जोशी, पं० सरयूप्रसादजी, मैं तथा और भी कुछ प्रतिष्ठित लोग उनके निवासस्थान पर गये थे और घण्टों बातचीत के उपरान्त यह तय हुआ कि कायस्थ-पाठशाला के मैदान में वेदान्त पर प्रोफेसर ड्युसेन का भाषण हो। नोटिस बाँटे गए और प्रोफेसर साहब का भाषण संस्कृत में बड़ी धूम-धाम से हुआ। यूरोपियन होते हुए भी वे पंडितों की तरह बैठ कर भाषण करते थे। व्याख्यान समाप्त होने पर आर्यसमाजियों ने शंकर के वेदान्त का खंडन और स्वामी दयानन्दजी सरस्वती के वेदान्त का

मंडन करने के निमित्त पं० भीमसेनजी को खड़ा किया। पं० भीमसेन ने अपने भाषण में यथाशक्ति खूब खंडन-मंडन भी किया। मदनमोहन को यह कार्यवाही अच्छी न मालूम हुई। उनको यह बात खटकने लगी कि यहाँ विदेश से एक ऐसा व्यक्ति आकर उपस्थित है जो हमारे गुणों को परखता है और उन्हें ग्रहण करना चाहता है और हम खंडन-मंडन के फेर में पड़कर उसके सामने बहुत भद्दा उदाहरण पेश कर रहे हैं। पं० भीमसेन का प्रतिवाद करने के लिए मदनमोहन ने बैठे-बैठे एक कागज पर संस्कृत में कुछ लिखा और मुझे सुनाने लगे। पं० सुन्दरलालजी भी पास ही बैठे थे। यह लेख सुनकर वह मुस्कराते जाते थे। यह दृश्य मेरे हृदय पर एक चित्र की तरह अंकित है। मैं सामने बैठे हुए पं० सुन्दरलालजी का वह मुस्कराना स्पष्ट देख रहा हूँ।

पं० भीमसेन के व्याख्यान के उपरान्त मदनमोहन का व्याख्यान हुआ। उनका व्याख्यान बहुत ही सुन्दर और मार्के का था। उन्होंने अपने भाषण में इस बात पर अफ़सोस ज़ाहिर किया और कहा कि "कहाँ जर्मन देश और कहाँ भारतवर्ष! इतनी दूर से एक प्रसिद्ध विद्वान् यहाँ आकर हमारे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण वेदान्त शास्त्रों पर व्याख्यान दे और हम लोग उसका खंडन करने के लिए खड़े हों! बहुत ही दुःख और लज्जा की बात है! मुझे इस कार्यवाही के ऊपर परम दुःख है।" सभा समाप्त होने पर प्रो० महोदय जब चलने को हुए तो डा० अविनाशचन्द्र बनर्जी ने तीन बार ज़ोर-ज़ोर से "डा० ड्यूसेन हिप-हिप हुर्रे" कहा और उनकी आवाज़ से मैदान गूँज उठा।

मदनमोहन जिस प्रकार अंगरेज़ी के विद्वान् हैं, वैसे ही संस्कृत-साहित्य के भी धुरन्धर पंडित हैं। वे वेद, गीता, रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत का बहुत दिनों से अब तक नित्य पाठ करते हैं।

पंजाब कांग्रेस में जब वे सभापति निर्वाचित हुए थे, तब उन्होंने अपना भाषण न लिखा, न छपवाया था। अपने अँगरेज़ी के भाषण को उन्होंने गीता, भागवत, महाभारत और मनुस्मृति आदि के श्लोकों से अलंकृत किया था। अख़बारों में उस भाषण को पढ़कर मदनमोहन के परम गुरु महामहोपाध्याय पं० आदित्यराम भट्टाचार्य बहुत प्रसन्न हुए थे और उन्होंने कहा था, "क्यों न हो, मालवीय व्यास का बेटा है न! वह शास्त्रीय प्रभाव कहाँ जा सकता है!"

तपस्वी मदनमोहन

मदनमोहन ब्राह्मण-बालक तो हैं ही, साथ ही तपस्विता भी इनमें कम नहीं है। मालूम पड़ता है कि अहिंसा और स्वाध्याय आदि धर्म इनका बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मैंने कई अवसरों पर इस बात का अनुभव किया, मगर 'घर की मूली साग-बराबर' वाली कहावत के अनुसार मदनमोहन की इस विशेषता की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से कभी आकर्षित नही हुआ। फिर भी कभी-कभी अवसर पड़ने पर अन्तरात्मा में कुछ भाव उठते हैं। मदनमोहन गाढ़े अवसरों पर काम आ जाते हैं।

इन्फ्लुएंजा के अवसर पर मेरे भतीजे चि० काशीप्रसाद को निमोनिया-सम्बन्धी बुखार था और एकदम बेहोशी का दौरा हो गया। गोदान वग़ैरह भी करा दिया गया। उस समय मेरी अवस्था पागलों जैसी थी। मैंने आदमी भेजकर मदनमोहन को बुलावाया। कह दिया कि जहाँ मिलें उनको फ़ौरन ले कर आओ। इसके बाद मैं चिकित्सकों के पास दौड़ा। डा० सुरेश को लेकर आया, मदनमोहन आ गए थे। उन्होंने मुझे सान्त्वना देते हुए कहा, "घबराने की बात नहीं है। काशी अच्छा है।" मैंने जब जाकर देखा तो विश्वनाथ ब्रह्मचारी ने डा० अनन्तप्रसाद की बतायी हुई मुँह के भीतर बफारा देने की दवा शुरू कर दी थी। डा० सुरेश ने भी उस बफारे को, जिसमें कुछ दवा का भी योग था, पसन्द किया और कहा कि इस दवा से काशी अच्छे हो जायँगे।

इस अवसर पर मुझे यही विश्वास हो रहा था कि दवा वग़ैरह एक तरफ, अगर मदनमोहन मेरे घर आ जायँ तो काशी सुखी हो जाय। मदनमोहन कोई वैद्य न थे; मगर मेरे मन में जो बातें उठी थीं, वे पूरी उतरीं।

इसी प्रकार की एक दूसरी घटना पहले घट चुकी थी। उस समय मालवीयजी के मँझले भाई पं० जयकृष्ण की हालत संग्रहणी के रोग से बहुत बिगड़ी थी। बड़े-बड़े वैद्य-डाक्टरों ने जवाब दे दिया था। इस समय मदनमोहन हमारे पास दौड़े आये और बड़े ज़ोर से मुझ से कहा, "मैंने सुना है कि भैया को आपने भी जवाब दे दिया है। बड़ी भूल की बात की है! उठो, चलो हमारे साथ, और उनकी दवा आरम्भ करो! वे बिल्कुल अच्छे हो जायँगे।"

मुझे ऐसा मालूम पड़ा, मानो भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हों, "उत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चयः ।" अब किस हिम्मत से कह देता कि उनके बचने की कोई उम्मीद नहीं। इसलिए सीधे चुपचाप मदनमोहन के साथ हो लिया। मेरा भी साहस और आत्मबल बढ़ गया था और हिम्मत पड़ी कि दवा दे दूँ। मैंने दवा करना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे मदनमोहन के आत्मबल ने सहायता की और पं० जयकृष्णजी आरोग्योन्मुख होने लगे। धीरे-धीरे जहाँ उनको छटाँक-आध पाव दूध हज़म होना कठिन था, वहाँ उनको १२-१४ सेर तक दूध हज़म होने लगा। इस बीच में उन्हें ऐसा बल हुआ कि वे अखाड़े में गये और एक पहलवान को पछाड़ा। इस घटना की खबर दो दिन तक न दी गई, क्योंकि कमर में हूक हो गई थी।

उसी समय चि० कृष्णकान्तजी मालवीय पं० जयगोविन्द के कोठे पर से पत्थर के ऊपर गिरे। बड़ी गहरी चोट आयी थी। उस अवसर पर उनकी जान पर बन गई थी। मगर मालवीय और उनके कुटुम्ब के पुण्य प्रभाव से वे शीघ्र अच्छे हो गए। कृष्णा के पिता पं० जयकृष्णजी को इस घटना की कोई खबर न दी गई। वे बीमार तो थे ही, इस समाचार को पाकर उनके विशेष घबरा जाने की आशंका थी।

एक दिन ऐसा हुआ कि मदनमोहन मेरे यहाँ आये। वे बहुत दुर्बल मालूम पड़ रहे थे। उनके चेहरे का रंग भी मुझे अच्छा मालूम न पड़ता था। यह मालूम पड़ा कि वे बाहर जाने वाले हैं। उनके स्वास्थ्य की ओर से मैं चिंतित था। मुझको खटका तो था ही, गाड़ी के समय मदनमोहन से मिलने के लिए स्टेशन पर जा पहुँचा। गाड़ी के पास बहुत देर तक खड़ा रहा। बहुत-से आदमियों के साथ जब वे आये तो मुस्कराकर हाथ उठाया और प्रश्न किया कि तुम कैसे आये ? मैं चकित था। मैंने साहस करके पूछा, "कौन-सी जादू की पुड़िया तुमने चाट ली, या कौन-सा अभ्यास तुमने कर लिया कि जिससे तुम एक दम हट्टे-कट्टे और प्रफुल्ल-वदन हो गए हो ?"

उन्होंने हँसकर कहा, "हाँ, कुछ कर लिया।"

इससे मुझे यह मालूम पड़ा कि उनके कुछ ऐसे अभ्यास हैं जिनको करके

ये ताज़ा और चंगे हो जाते हैं। मैंने इनमें आत्मबल, प्रसादगुण, भगवद्भक्ति एवं भगवत्-परायणता बहुत पायी है।

मन्त्र-दीक्षा

एक दिन मेरे पुत्र चि० कृष्णानन्द पांडेय को देखने के लिए मदनमोहन घर पर आये थे। उन दिनों उनको नयी धुन सवार थी। उन्होंने लोगों को दीक्षा देने का काम शुरू किया था। मैंने पूछा, "मनमोहन, तुमने काशी और कलकत्ते में सब जातियों को दीक्षा देना शुरू कर दिया है। तुम स्वामी दयानन्दजी महाराज से भी एक क़दम आगे बढ़ना चाहते हो ?"

मदनमोहन ने हँसकर कहा "हाँ जी, मन में जम गया और मन्त्र का काम कर डाला।"

मैंने फिर कहा, "मगर तुम्हारा मन्त्र क्या है ? मुझसे तो तुमने कभी उसका ज़िक्र तक नहीं किया।"

तब उन्होंने 'ॐ नमोनारायण' 'ॐ नमः शिवाय' आदि मन्त्रों के विषय में संक्षेप में, किन्तु महत्त्वपूर्ण बात की ओर चले गए।

समस्त मनुष्य-समाज को एकदम ऊँचा उठाने के चिन्ता की प्रेरणा से ही मदनमोहन ने दीक्षा देने का काम उठाया था। समाज में धार्मिक भावों की रक्षा, वृद्धि एवं प्रचार के उद्देश्य से ही मदनमोहन ने विगत कुम्भ के अवसर पर धर्म-सम्बन्धी अनेक पुस्तकें हिन्दी-संस्कृत में छपवा कर मुफ्त वितरण करायी थीं।

मदनमोहन का सब जातियों को प्रणवसहित मन्त्रों को जपने के लिए उत्साहित करना पण्डितों को अच्छा नहीं लगा। भारत के कुछ प्रमुख पंडितों ने उनके इस दीक्षा-कार्य का घोर विरोध किया। मगर मदनमोहन को देश का कल्याण इसी में जान पड़ा कि सब जातियाँ मन्त्रों का जप करें। अछूतोद्धार का यह सहज नुसखा पाकर उससे वे लाभ न उठावें, यह मदनमोहन की क्षमता से बाहर था। फिर भले ही सारा संसार उसका विरोध क्यों न करे। महापुरुष जब एक निश्चय कर लेते हैं, तब विरोधों का सामना करते हुए भी वे अपने निश्चय के अनुसार चलते हैं।

कौटुम्बिक

मदनमोहन के कुटुम्ब से मेरा घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। परमात्मा की कृपा से इनकी सन्तान एक-से-एक प्रतिभा-सम्पन्न, योग्य और विद्वान् है। मालवीय-कुटुम्ब के पुण्य से मदनमोहन को गृहस्थ-धर्म का पालन करने वाली, सहनशीला, दुःख में भी सुख मानने वाली धर्मपत्नी मिली थी। मदनमोहन की माता (अम्मा) ने मुझसे इस महिला का बखान जिस प्रकार किया था, वह मुझे खूब स्मरण है। सचमुच जिस कुटुम्ब में मदनमोहन की स्त्री जैसी महिलाएँ रहती हैं, वही परमात्मा का निवास-स्थान बन जाता है :

वसुन्धरेव गृहिणी यत्र सर्वसहा गृहे।
सुखे दुःखे निर्विकारा तत्रैव रमते हरिः॥

—शिवराम पाण्डेय

मैं अवश्य आऊँगा !

हमने ६ महीने के लिए एक अखंड नाम-जप-संकीर्तन अनुष्ठान झूँसी में, सम्वत् १९९२ में किया था। छः महीनें हो गए तब उसका एक बृहद् अधिवेशन किया गया। उत्सव समारोह के साथ हुआ। अब यह विचार हुआ कि साधकों को अन्तिम उपदेश किन से दिलाया जाय। सभी क्षेत्रों की दृष्टि महामना में ही जाकर केन्द्रित हो जाती थी।...उन दिनों उन्हें बहुत काम थे। स्वास्थ्य भी अत्यधिक श्रम के कारण आधा नहीं था। मेरा तो हृदय धक्-धक् कर रहा था। वे इतने महान् हैं, इस छोटे-से गाँव में हम लोगों के बीच में कैसे आ सकेंगे ! पं० रामकृष्णजी ने साहस के साथ कहा—"वे अवश्य आवेंगे, आप उनसे कहकर तो देखें !" मैंने कहा—"अच्छी बात है, तुम्हीं जाओ !"

वह गये। उनका कहना है, महामना के पास तारों का ढेर लगा था। तारपत्रों की गड्डी की गड्डी लिये परिचारक खड़े थे। बड़ौदा महाराज के दीवान उन्हें एक अत्यावश्यक कार्यवश लेने आये थे। महामनाजी वहाँ जाने का पक्का विचार कर रहे थे, इतने में ही मैंने जाकर प्रणाम करके शीघ्रतापूर्वक बीच में कह दिया—"ब्रह्मचारीजी ने आपको बुलाया है !" इतना सुनते ही उन्होंने सब कार्य रोक दिये। पास बैठे हुए आचार्य ध्रुव से बोले—"अब क्या किया जाय ? मैं तो बड़ौदा जाने की तैयारी कर रहा हूँ, इधर ब्रह्मचारीजी का बुलावा आया है। और किसी का होता तो टाल भी देते, साधु का कार्य है। बड़ा धर्म-संकट है ! आप ही को पंच बनाते हैं, जो निर्णय आप कर दें, वही करें !"

वे तो मनुष्यों की परख जानते थे। इसीलिए आचार्य ध्रुव को विश्वविद्यालय का प्रधानाचार्य बनाया था। आचार्य ध्रुव ने निर्भीकता के साथ कहा—"देखिये महाराज ! साधु और राजा के काम में साधु का कार्य श्रेष्ठ है। दूर के और समीप के कार्य में समीप का कार्य श्रेष्ठ है। बड़ौदा और प्रयाग के कार्य

में प्रयाग का कार्य श्रेष्ठ है। हमारी सम्मति तो यही है कि आपको बड़ौदा न जाकर झूँसी जाना चाहिए। आगे आपकी जैसी इच्छा !" फिर क्या था, महामना ने मुझे कह दिया—"मैं झूँसी आऊँगा।"

लोगों का कहना है कि महामना के पधारने पर झूँसी में जैसा समारोह हुआ, झूँसी के इतिहास में गत कई शताब्दियों में वैसा समारोह कभी नहीं हुआ होगा। अपार जनता की भीड़ उमड़ पड़ी थी।......वे वहाँ आते ही घर की तरह स्वयं काम करने लगे। मुण्डन कराके वे स्वयं पूजन और हवन कराने लगे।

एक-एक बात का ब्यौरा पूछने लगे। आमदनी-खर्च की बहियों को स्वयं बड़े ध्यान से देखा। सबसे अलग-अलग बातें कीं। दिन-भर वे यही करते रहे। अपने साथ पीने का दूध स्वयं लाये थे।......अपरिचित की भाँति पहले-पहल नहीं मिले।

उन दिनों मैं दो बजे से पहले कुटी से नहीं आता था। वे काशी से आ गए, स्वयं ठहर गए। हवन पर बैठ गए। बार-बार पूछने लगे—"ब्रह्मचारीजी नहीं आये ? वे आ जायँ, तभी कार्यारम्भ होगा।" जब मैं आया तो एक पिता की तरह बड़ी सरलता से, मानो मैं उनका एक अभिन्न आत्मीय ही हूँ, कहने लगे—"देखिये, आपको मेरे साथ बैठना होगा। जब आप मेरे पास बैठकर हवन करावेंगे, तभी होगा।" मैं हँस पड़ा और उनके चरणों के समीप बैठ गया। उसी दिन मेरा साक्षात् मिलन हुआ और उसी दिन से उन्होंने मुझे अपना बना लिया।

उन्होंने 'नाम-माहात्म्य' पर जो सारगर्भित भाषण दिया, वह उस साल के 'कल्याण' में प्रकाशित हुआ था। महामना ने सन्तों की वाणियों को चुन-चुन कर भगवन्नाम की महिमा सिद्ध की थी।

तीन वर्ष पूर्व जो विराट् महा संकीर्तन यज्ञ त्रिवेणी-तट पर हुआ था, उसमें हमने उन्हें (महामना को) अपना स्वागताध्यक्ष बनाया था। उस समय वे अत्यन्त रुग्ण थे। धीरे-धीरे कहा, "तुम कैलाश (काटजू) को प्रधान बना

लो। मैं आऊँगा अवश्य। प्रातः सरदी है, ४ बजे आऊँगा।" हमने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। पंडित कैलाशनाथजी काटजू ने ध्वजारोपण संस्कार किया। मध्याह्नोत्तर उन्हें लेने पं० रामकृष्णजी मोटर लेकर उनके घर गये। उनका कहना है उस समय बिहार प्रान्त के मुख्य मंत्री श्रीकृष्णबाबू तथा मध्यप्रान्त के मुख्य मंत्री पं० रविशंकर शुक्ल उनके समीप बैठे थे और किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर परामर्श कर रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने कहा, "अच्छा, मोटर ले आये ? ध्वजारोपण हो गया ?" रामकृष्णजी ने कहा—"जी हाँ, हो गया, ब्रह्मचारीजी ने आपको बुलाया है !"

यह सुनते ही दोनों मुख्य मंत्रियों से बोले—"देखो, ब्रह्मचारीजी को हमने वचन दिया है, हम उनके यज्ञ में अवश्य जायँगे। तुम लोग क्या कहते हो ?"

मालूम होता था वे उस आवश्यक विषय को समाप्त करके शीघ्र ही अपने प्रान्तों में जाना चाहते थे। मुख्य मंत्रियों का एक-एक पल अमूल्य होता है, किन्तु उनके सम्मुख कुछ कहने का साहस किस का हो सकता था ? दोनों ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा हो ! आज्ञा हो तो हम यहीं बैठे रहें, नहीं तो फिर आयें।" कुछ सोचकर वृद्ध पितामह बोले—"अच्छा, तुम लोग जाओ ! हमें पता नहीं कितनी देर लग जाय, तुम फिर आना !" आज्ञा पाते ही उन दोनों ने भूमिष्ठ होकर उन वृद्ध ऋषि के पाद-पद्मों में प्रणाम किया और चले गए। महामना यज्ञ-मंडप में पधारे।

यज्ञ-मंडप में पधारने पर वहाँ के लोगों को कितना उत्साह मिला, कैसी-कैसी बातें माँ आनन्दमयी के साथ करते रहे, इसका उल्लेख हमने 'विराट् महासंकीर्तन का विवरण' नामक पुस्तक में संक्षेप में किया है। उसे फिर से यहाँ दुहराना अनावश्यक है।

कैसी उनकी कृपा थी, कितना उनका वात्सल्य था ! किसी ने उनसे जाकर कह दिया—'ब्रह्मचारीजी ने तो अब फलाहार करना भी छोड़ दिया है, गंगाजल पीकर ही श्रीमद्भागवत के पारायण कर रहे हैं।'

इतना सुनते ही महामना व्यग्र हो उठे। उसी समय फोन करके रामकृष्ण

को बुलाया और समझाया—'देखो, ब्रह्मचारीजी से हमारी ओर से कह देना—यह बात ठीक नहीं। यह तो तामसिक है। वे नित्य भागवत के माहात्म्य में पढ़ते नहीं :

भोजनं तु वरं मन्ये, कथाश्रवणकारकम्।
नोपवासो वरः प्रोक्तः, कथा विघ्नकरो यदि॥

इसलिए उनसे कहना—जैसे पहले फलाहार करते थे, वैसे ही फलाहार किया करें!' रामकृष्णजी ने बहुत कहा कि 'महाराज! आपको किसी ने झूठी सूचना दी है, उन्होंने साग और फल छोड़ दिया है, दूध पीते हैं।' किन्तु वे आग्रह करते ही रहे—'भाई, तुम कह देना, यह ठीक नहीं। काया राखे धर्म होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी में आरोग्य को ही मुख्य कारण माना है।'

जब यह सम्वाद मैंने सुना तो मेरी आँखों में आँसू आ गए। हृदय भर आया। रोग-शैया पर पड़े-पड़े भी उन्हें मेरा कितना ध्यान है! जिन्हें सम्पूर्ण भारत की एक-एक बात के लिए सोचना पड़ता है, सभी क्षेत्र के लोग जिनसे निरन्तर बड़े-बड़े विषयों पर परामर्श करते रहते हैं, उन्हें शैया पर पड़े-पड़े सदा इस बात का ध्यान रहता है कि त्रिवेणी के तट पर पड़ा एक साधु-वेषधारी पुरुष क्या खाता है। इससे बढ़कर उनकी महानता, कृपालुता और वात्सल्यता क्या होगी!

—ब्रह्मचारी प्रभुदत्त

ऋषिकल्प की कल्पना : हिन्दू-विश्वविद्यालय

सन् १६१० के दिसम्बर मास में बड़ी भीड़-भाड़ हो रही थी। एक ओर श्री विलियम वेडरबर्न की अध्यक्षता में कांग्रेस की बैठक हो रही थी और दूसरी ओर उसी के साथ सरकारी सहयोग में बृहत् प्रदर्शनी हो रही थी। प्रान्तीय सरकार का लक्ष्य था कि सन् १६०४ की बम्बई की और सन् १६०६ की कलकत्ता की प्रदर्शनियों को नीचा दिखाया जावे; पर, वास्तव में कुछ लक्ष्य दूसरा ही था। एक मास के लगभग प्रयाग में रहकर भी मैंने अपने उस समय के विचार के अनुसार इस प्रदर्शनी को नहीं देखा। इस कारण इस पर कुछ लिखना अनधिकार चेष्टा होगी।

इसी वर्ष मैं पढ़ना छोड़कर, बी० ए० में होता हुआ भी, परीक्षा में नहीं बैठा। घर में मेरे सुपुर्द कोई काम नहीं था। समय, उत्साह और स्वास्थ्य की कमी न थी। पूज्यवर मालवीयजी महाराज से घनिष्ठता हो गई थी। मैंने उन्हें 'बाबू' कह पुकारना आरम्भ कर दिया था और उन्होंने भी पिता के सदृश प्रेम और शिक्षा आरम्भ कर दी थी। किन्तु इतना होते हुए भी बाबू के उदार राजनैतिक विचारों से हम बालक सहमत न थे और उनसे इस सम्बन्ध में प्रायः वादविवाद हो जाया करता था। वे बड़े प्रेम से समझाने का यत्न करते थे, पर मेरी उस समय गदहपचीसी थी। बात क्यों समझ में आती! अस्तु।

यह वह समय था, जब हिन्दू-कालेज के ट्रस्टियों में कृष्णमूर्ति की बात लेकर आपस में वैमनस्य की नींव पड़ चुकी थी। हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा सन् १६०४–५ में उठकर एक बार शान्त हो चुकी थी और सन् १६०६ में अलीगढ़ में मुस्लिम-युनिवर्सिटी का विचार आरम्भ होकर स्वरूप भी पा चुका था। 'गुरू गुरू ही रहे, चेला शक्कर हो गए' की कहावत इस संबंध में चरितार्थ हो चुकी थी। इसी समय हिन्दू-विश्वविद्यालय की चर्चा फिर उठ खड़ी हुई।

सिद्धान्तों को लेकर प्रस्ताव फिर उपस्थित हुआ। श्रीमती ऐनी बीसेंट चाहती थीं कि बादशाह के चार्टर को आधार बनाकर एक सार्वभौम भारतीय विश्वविद्यालय काशी में खोला जावे जिसके अन्तर्गत देश के प्रान्तों के कालेज रह सकें और सब जगह यहाँ की परीक्षा का केन्द्र बन सके। पर इस विचार का अन्त भी एक प्रकार से हो चुका था और उन्हें इस प्रयत्न में सफलता की आशा मिट चुकी थी। इसी अवसर पर मालवीयजी महाराज ने हिन्दू विश्वविद्यालय का नया विचार नये रूप में फिर से उपस्थित किया। प्रयाग में स्यात् इसकी प्रथम बैठक हुई। स्वनामधन्य परलोकवासी श्री पंडित सुन्दरलालजी से इस संघटित संस्था के मंत्रित्व के लिए विनती की गई। उनके पैरों पर सच्चे ब्राह्मण मालवीयजी की पगड़ी तक डाली गई; पर उन्होंने हर प्रकार की सहायता का वचन देते हुए भी, और हर तरह से सहायता देते हुए भी, जब तक सरकार का रुख स्पष्ट ज्ञात न हो जावे, तब तक खुल कर स्पष्ट रूप में मंत्रित्व ग्रहण करने से इनकार ही कर दिया। कुछ उपाय न देख पूज्य बाबू ने अपने पैरों पर खड़ा होना ही विचारा और कलकत्ते के लिए प्रस्थान कर दिया। मैं भी उल्लू के चूल्हे की तरह बेकार होने के कारण उनके साथ हो लिया। कलकत्ता पहुँच कर बाबू तो हैरीसन रोड पर श्री पं० सुन्दरलाल सारस्वत के गृह पर उतरे और मैं अपनी कोठी श्री शीतलप्रसाद खड्गप्रसाद, ३० बरतल्ला स्ट्रीट पर जा उतरा। पूज्य मालवीयजी ने प्रचार आरम्भ कर दिया। मेरे अत्यन्त प्रियवर, वयस में छोटे परलोकवासी चचा श्री मंगलाप्रसाद एम० ए० की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, वा स्यात् परीक्षा दे चुके थे। उनके तथा श्री गोकुलचन्द के, जो उनसे और मुझसे भी थोड़े बड़े थे, प्रयत्न और उत्साह से मेरी कोठी ने इस कार्य में सहायता देना स्वीकार कर लिया। कलकत्ता नगर के बड़े-बड़े महाजनों, साहूकारों और जनता ने भी दिल खोल कर इस कार्य में धन और मन से सहयोग दिया। तत्कालीन स्वनामधन्य बीकानेर-नरेश ने भी इस सम्बन्ध में बड़ी सहायता का वचन दिया और गाड़ी चल निकली। इसी अवसर पर श्री हरकोर्ट बटलर, जो उस समय बड़े लाट के शिक्षामंत्री थे, मालवीयजी महाराज से मिले और इनसे बहुत-सी बातें कीं। आपने पहले ही कह दिया कि यदि प्रस्तावित संस्था में मातृभाषा द्वारा पढ़ाने की व्यवस्था रही, तो उसमें सरकारी सहायता और सहानुभूति की आशा रखना व्यर्थ है। उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि जब तक आप अँगरेजी भाषा में लिखते-बोलते और पढ़ते हैं, तब तक तो हमें शान्ति रहती है—क्योंकि

उस समय तक हम आपकी सब बातों और चालों को भली भाँति समझ सकते हैं और सँभाल सकते हैं; पर जिस समय आप भाषा में कार्य करना आरम्भ कर देते हैं, तब उसका समझना हमारे लिए कठिन हो जाता है। इस कारण मातृ-भाषा द्वारा उक्त शिक्षा देने की अनुमति सरकार से किसी अवस्था में नहीं मिल सकती। न जाने क्या विचार करके कुछ मित्रों का विरोध रहते हुए भी बाबू ने श्री बटलर का इशारा समझ कर इस बात को स्वीकार कर लिया और मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने का विचार एक प्रकार से छोड़ दिया, या कहिये, कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया।

इसी समय श्रीमती ऐनी बीसेण्ट के भी तीन व्याख्यान भारतीय विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में कलकत्ते में हुए। इसके उपरान्त एक सार्वजनिक सभा में विश्वविद्यालय की घोषणा की गई। कलकत्ते में आर्थिक सहायता का जो वचन मिला था, वह प्रकट किया गया और प्रायः ५ लाख का वचन मिला और कुछ नक़द भी मिला। हमारी गाड़ी आगे खिसकी। गौरीपुर के ज़मींदार श्री व्रजेन्द्र राय किशोर चौधरी के मैनेजर श्री मनमोहन घोषबाबू, तथा श्री राधाकुमुद मुकर्जी और श्री विनयकुमार सरकार की, जो नेशनल कौंसिल ऑफ एजूकेशन के सदस्य थे और अन्तिम दो सज्जन यहाँ के अध्यापक भी थे, सहायता से विश्वविद्यालय के विचार का प्रचार बंगाली सज्जनों में खूब हुआ और कुछ धन भी मिला। परलोकवासी श्री लंगटसिंह की सहायता और उत्साह से परलोकवासी श्रीमहाराजधिराज दरभंगा से भी इस सम्वन्ध में चर्चा और सहायता की आशा हुई। बाबू के लँगोटिया यार और प्रान्त के वयोवृद्ध नेता एवं कार्यकर्त्ता परलोकवासी श्री बाबू गंगाप्रसादजी वर्मा भी बाबू के साथ हो लिए और कलकत्ता आ गए। श्री ईश्वरसरनजी ने भी साथ दिया। परलोकवासी श्री पंडित गोकरननाथजी मिश्र ने भी पूरा सहयोग का हाथ बढ़ाया और गाड़ी चल खड़ी हुई। प्रिय मंगलाप्रसाद और मैंने बाबू के सफर का प्रबन्ध, धन के ख़जांची का काम और इसी प्रकार के फुटकर कार्यों का कार्यभार अपने ऊपर ले लिया।

इतने समय के बाद, ठीक क्रम में तो चूक हो सकती है, पर जहाँ तक स्मरण है, विश्वविद्यालय के लिए बंगाल में मालदह और फ़रीदपुर में दौरा हुआ; बिहार में पटना, मुजफ्फरनगर, भागलपुर और दरभंगा में हुआ। संयुक्तप्रान्त में जौनपुर, काशी, प्रयाग, कानपुर, इटावा; पंजाब में अमृतसर और लाहौर

में। इतने ही में प्रायः बीस लाख रुपयों की सहायता का वचन मिल चुका था। एक प्रकार से सारे भारत में विश्वविद्यालय के आगमन की दुन्दुभी बज चुकी थी। जनता के उत्साह का ठिकाना न था, मनुष्यों के हृदय में एक नया भाव, एक नयी भावना और एक नवीन आशा की बाढ़-सी उमड़ पड़ी थी। कार्यकर्तागण फूले न समाते थे। भिन्न-भिन्न नगरों की सभाओं में दानियों की प्रतिस्पर्धा देखने योग्य होती थी।

मुजफ्फरपुर में एक भिक्षा माँगने वाली भंगन ने अपने दिन-भर की कमाई, एक पैसा या एक अधेला, जो उसे मिला था, इस यज्ञ में समर्पण कर दिया और दर्शकों को 'शुक्लसत्र' की याद दिलाकर चली गई। इसी प्रकार एक व्यक्ति ने एक फटी कमीज़, जो उसके बदन पर पड़ी थी, उतार कर प्रदान कर दी थी। इन चीज़ों को नीलाम करने पर सैकड़ों रुपये मिले थे और ये वस्तुएँ भी विश्वविद्यालय को वापस कर दी गई थीं कि ये उसके संग्रहालय में विवरण के साथ सुरक्षित रखी जावें। यहीं मुज़फ्फरपुर में एक बंगाली महोदय ने स्यात् पाँच हजार रुपया दान किया था और पुनः उनके गृह पहुँचने पर उन की पत्नी ने अपना बहुमूल्य स्वर्णकंकण बाबू को भेंट दिया, जिसे उनके पति ने उसका दूने से अधिक मूल्य देकर ले लिया और पत्नी को फिर वापस दे दिया, और जिसे उनकी पत्नी ने संग्रहालय में रखने के लिए पुनः दान कर दिया। इसी मुज़फ्फरपुर की एक घटना और भी उल्लेखनीय है। रात्रि हो चली थी, सभा में धन एकत्रित हो चुका था, एक ओर उसकी गिनती हो रही थी, दूसरी ओर छोटी-छोटी चीज़ें नीलाम हो रहीं थीं, रोशनी ज़रा कम थी कि एक उचक्का हज़ार-हज़ार की दो थैलियाँ उठा कर चल दिया। पीछे दौड़ हुई, पर वह नाले और झोंपड़ियों में होकर ग़ायब ही हो गया।

सभी जगह कुछ न कुछ ऐसी घटनाएँ हुई हैं कि जिनका उल्लेख पाठकों के लिए शिक्षाप्रद और कौतूहलप्रद हो सकता है, पर उस ओर न जाकर मैं दूसरी ओर झुकता हूँ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि विश्वविद्यालय की दुन्दुभी बजाते हुए बाबू और उनके साथी कलकत्ता से लाहौर पहुँच गए थे। २०-२५ लाख का वचन मिल चुका था। हिन्दू-विश्वविद्यालय का आन्दोलन ब्रह्मपुत्र की बाढ़ के सदृश समुद्र

की ओर वेग से बह रहा था। उसके आगे का पथ रोकना असम्भव हो चुका था। जब शिमला-शिखर से बाबू के लिए बुलावा आया, बाबू और उनके साथ मैं भी शिमला पहुँचा। परलोकवासी राजा हरनामसिंहजी की कोठी में हम लोग ठहराये गए। बाबू उस समय के वाइसराय लार्ड हार्डिंग से मिलने गये और वहाँ से बड़े प्रसन्न आये और मुझे बुलाकर कहा कि वाइसराय ने विश्वविद्यालय को अपनाने का वचन दे दिया है। मुझे काटो तो बदन में खून नहीं। मैं तो सन्न रह गया और मुख से हठात् निकल पड़ा, 'This is the death-knell of the Hindu University' अर्थात् यह तो हिन्दू-विश्वविद्यालय की मृत्यु-घोषणा है। अस्तु, हम लोग ऊपर से उत्तर कर फिर लाहौर वापस आये। लाहौर की बृहती सभा में स्वनामधन्य परलोकवासी लाला लाजपतरायजी ने कहा—'Charter or no charter, Hindu Uniyersity must exist' जिसके उत्तर में बाबू ने कहा कि 'Charter and charter, Hindu University must exist.' इन वाक्यों से दोनों महान् व्यक्तियों की मनोवृत्ति का भली भाँति पता चल सकता है। अस्तु; अब क्या था! अब तो चारों ओर से लोगों की सहानुभूति आने लगी। राजा-महाराजा, उपाधिधारी और देश में अपने को सर्वस्व समझने वाले लोग झुक पड़े और जहाँ ग़रीब व साधारण लोगों की जेबों में से गाढ़ी कमाई का पैसा दो-दो की संख्या में भी आता था, वहाँ अब बड़े-बड़े लोगों का बड़ा-बड़ा दान लाखों की संख्या में आने लगा। विश्वविद्यालय जनता और ग़रीबों का न रहकर सरकारी छत्रछाया के नीचे मुट्ठी-भर राजा-महाराजाओं व बड़े आदमियों की संस्था बन गया। लाहौर से डेपुटेशन आगे बढ़ा। समारोह से सभा हुई, १२ घंटों तक लम्बा जुलूस निकला, परलोकवासी महाराजा दरभंगा ने आकर शिरकत की और सभापति बनना स्वीकार किया, साथ ही ५ लाख का दान भी दिया। इसी के पहले पूज्य पंडित सुन्दरलालजी ने भी श्री हरकोर्ट बटलर के कहने पर मंत्रित्व स्वीकार कर लिया था। अब बहाव का रुख दूसरी ओर चला था और आगे क्या हुआ, सभी जानते हैं।

—शिवप्रसाद गुप्त

सन्त मालवीयजी

सन् १९३६ में कांग्रेस भी विधान-मंडलों के चुनाव लड़ रही थी। मैं तो हमेशा-हमेशा चुनाव के लिए अयोग्य ही रहता था। इस बार भी, चूँकि दो वर्ष की सजा काट कर आया, मुझे असेम्बली के लिए खड़े होने की सरकार से अनुमति नहीं मिली। पन्तजी ने गवर्नर को ख़त लिखा, पर सरकार का जवाब आया कि श्री जवाहरलाल नेहरू के दौरे में इस आदमी ने सभा में पुलिस को घूँसा दिखाया था, इसलिए इस पर लगा प्रतिबन्ध उठाया नहीं जा सकता। मुझे बहुत मायूसी हुई, पर मेरे कांग्रेसी साथियों ने मेरी धर्मपत्नी स्वर्गीया शर्मदा त्यागी को, जो स्वयं भी जेल काट चुकी थीं, देहरादून से मेरी जगह खड़ा कर दिया, यह कह कर कि ६ महीने बाद जब मुझ पर लगा प्रतिबन्ध समाप्त हो जायगा, तो शर्मदाजी इस्तीफा दे देंगी और मैं विधान-सभा में चला जाऊँगा।

उस समय श्री रफ़ी अहमद क़िदवाई हमारी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी (उत्तर प्रदेश) के अध्यक्ष थे। लखनऊ में एक बालेख़ाने पर रहते थे। सैकड़ों, टिकट लेने वाले आदमी, उनके पास आते-जाते थे। उनका बहुत नाम था, क्योंकि उनका घर 'कांग्रेस का टिकटघर' था। इक्के-ताँगे वाले उनको 'नखलऊ का नवाब' कहने लगे थे। स्वास्थ्य तो ठीक था नहीं, टेलीफ़ोन के ज़ोर से चुनाव लड़ रहे थे। इससे पहले श्री रफ़ी अहमद क़िदवाई के सारे गुण प्रान्त को मालूम नहीं थे, असली गुणों का पता तो इस चुनाव से ही लगा। अँगरेज़ गवर्नर चुनावों में विशेष रूप से दिलचस्पी ले रहे थे। उन्होंने तमाम राजा-महाराजाओं, ताल्लुक़ेदारों और ज़मींदारों को मिलाकर एक दल बनवा लिया था, जिसका नाम 'ऐग्रीकल्चरिस्ट पार्टी' रखा था। बड़ा ज़ोर था उनका। कलेक्टर भी अधिकतर अँगरेज़ थे और जो हिन्दुस्तानी थे वे अँगरेज़ों से कम नहीं थे। अधिकतर इसी कोशिश में थे कि कांग्रेस हार जाय। श्री मालवीयजी ने अपनी 'इंडिपैण्डैण्ट कांग्रेस पार्टी' खड़ी कर दी थी। अधिकतर कांग्रेस वालों का कहना था कि शायद ३०-४० प्रतिशत सीटें कांग्रेस को मिल जायँ,

क्योंकि न तो हमारे पास रुपये थे और न प्रभावशाली उम्मीदवार। बड़े आदमी असेम्बली के लिए खड़े होने में अपना अपमान मानते। अभी तक हमारे कानों में महात्मा गांधी जी के वे शब्द गूँज रहे थे कि 'अँगरेज़ों के विधान-मंडल में जाना पाप है।'

अपनी सफलता पर भरोसा कम था। अकेले जवाहरलाल कहते थे, "तुम लोग नहीं जानते हो, हम बहुत बड़े बहुमत से जीतेंगे। केवल उत्तरप्रदेश में नहीं, बल्कि सारे सूबों में जीतेंगे।" हम लोग आपस में इन्हें 'आसमानी नेता' कह कर हँसा करते। अब देखते हैं कि यह तो सचमुच आसमानी नेता ही नहीं, बल्कि फरिश्ता निकला।

दूसरे थे श्री रफ़ी अहमद क़िदवाई। उनके सम्बन्ध में हमारी यह धारणा थी कि यह सोचते कुछ हैं, कहते कुछ हैं। पर वह बड़े विश्वास के साथ कहा करते कि कांग्रेस की कसरत राय आ जायगी। पण्डित गोविन्दवल्लभ पंत की राय मुझे याद नहीं रही; पर मेरा ऐसा खयाल है कि उनको शायद पूरा भरोसा नहीं था कि हमारा बहुमत हो जायगा।

मालवीयजी उन दिनों देहरादून आये हुए थे, बीमार थे। मेरा नियम था कि सुबह-शाम उनको नमस्कार कर आऊँ और सेवा पूछ लूँ। श्री रफ़ी अहमद क़िदवाई को यह पता था कि मैं मालवीयजी के पास आता-जाता हूँ और मालवीयजी मुझ पर कृपा रखते हैं। श्री क़िदवाई बेचारे आज हमारे बीच में नहीं है। उनकी बात का पीठ-पीछे ज़िक्र करना ऐसा लगता है जैसे किसी गिरोह का एक आदमी मुख़बिर हो जाय। जेलख़ाने में जो मुख़बिर आते थे, क़ैदी लोग उनको ख़ूब पीटते थे। आज मैं भी मुख़बिरी का काम कर रहा हूँ, अपने एक बहुत गहरे दोस्त के ख़िलाफ़, पुराने-पुराने राज़ (रहस्य) खोल रहा हूँ। पर उन रहस्य के कामों में कोई स्वार्थ-भावना नहीं थी; परोपकार किये थे, इसलिए उनको पूरा पाप कहना भी ग़लत होगा। सब देश-हित के विचार से किया गया था। रफ़ी भाई को भी पाठकगण इसी आधार पर क्षमा करें कि 'प्रेम-युद्ध के कोई क़ायदे-क़ानून नहीं होते।'

एक दिन शाम को लखनऊ से रफ़ी साहब का टेलीफ़ोन आया, 'त्यागीजी,

आप मालवीयजी से मेरी सिफ़ारिश नहीं कर सकते ?' मैंने कहा, 'क्या कहना है, बताइये !' कहने लगे, 'ज़रा तुम उनसे कहो कि काहे के लिए यह इंडिपेण्डेण्ट पार्टी अलग खड़ी करते हैं ? तन्दुरुस्ती उनकी ठीक नहीं, दौरा करने के क़ाबिल नहीं। फिर इंडिपेण्डेण्ट पार्टी के उसूल सब कांग्रेस के उसूलों से मिलते हैं, सिर्फ़ एक 'कम्युनल अवार्ड' के मामले में मतभेद है। फजूल के वास्ते झगड़ा करेंगे, लाखों रुपये अपने खराब करें। हमारे ऊपर भी मुसीबत आ जायेगी, और न यह जीतेंगे, न हम जीतेंगे; जीतेगी ऐग्रीकल्चरिसट पार्टी। उनको समझाइये, मालवीयजी को। अपने बड़े नेता हैं। अब मोतीलालजी तो हैं नहीं, सबसे पुराने नेता वही हैं हमारे सूबे में। कहो उनसे कि फ़ैसला कर लें !' मैंने कहा, 'साहब, कैसा फैसला आप चाहते हैं ? किस लाइन पर बातें करूँ ?' उन्होंने कहा, 'थोड़ी-बहुत सीटें ले लें और चुप हो जायँ। जहाँ-जहाँ से वे सीट लेंगे, हम कांग्रेस के उम्मीदवारों को वापस कर लेंगे ?" मैंने कहा, 'कोशिश करूँगा।'

रात को मैं गया मालवीयजी के पास और वही सब बातें अपने तरीक़े से कह दीं। मालवीयजी ने कहा, 'देखो भाई, कांग्रेस मेरे लिए कुछ सीटें छोड़ दे तो मैं समझौते के लिए विचार कर सकता हूँ। तुमसे रफ़ी अहमद क़िदवाई ने बात की है ?' मैंने कहा, 'जी हाँ; वह तो यह कहते थे कि अगर मालवीयजी चाहें, तो देहरादून आकर बातें कर लूँ। आप कहें तो उन्हें बुलवा लूँ।' उन्होंने कहा, 'हाँ, ज़रूर बुला लो।' मैंने घर आते ही रफ़ी अहमद क़िदवाई साहब को टेलीफोन किया कि आ जाओ। वह अगले दिन देहरादून आ गए और श्री वेंकटेशनारायण तिवारी को भी अपने साथ लेते आए। मालवीयजी को तिवारीजी पर बहुत भरोसा था। मुझसे मिले तो मैंने सारी बातें बता दीं। फिर मालवीयजी के पास ये दोनों पहुँचे और मैं भी गया। बातचीत होने लगी।

रफ़ी अहमद क़िदवाई की कुछ अदाएँ ऐसी थीं कि वे जिनसे ज़्यादा मुहब्बत करते या जिनकी ज़्यादा इज़्ज़त करते, उनके सामने मुँह से शब्द नहीं निकालते थे। मैंने पचासों बार उन्हें भाई ज़वाहरलाल से बात करते देखा है; 'हाँ, हूँ, जी हाँ, अच्छा, वाह ! रहने दीजिये, क्या ! 'जी नहीं'—इस क़िस्म की बात करते थे। बात अपनी कहेंगे, पर दो टूक, बहुत थोड़ी-सी; और वह भी घुमा-

फिराकर, नीची निगाह किये, जैसे अपने अब्बाजान के पास पहुँचते हों।

रफ़ी साहब मालवीयजी के कमरे में दबे पैर दाखिल हुए। आदाबअर्ज़ किया और बैठ गए। मालवीयजी ने कहा, 'कहो रफ़ी, त्यागीजी ने कल मुझसे कहा था कि तुम समझौता करना चाहते हो। अब उसमें और क्या ? बात तो ठीक ही है। तुम यह बताओ कि कितनी सीटें तुम मुझे दे सकते हो ?' रफ़ी साहब ने कहा, 'यह तो आप ही बताइये कि कितनी सीटें आपको चाहिए ? जितनी आप चाहें, ले लें !' मालवीयजी ने कहा, 'हाँ, सच ?' 'जी हाँ, जो कुछ आप हुक्म देंगे, वही होगा।' मालवीयजी बोले, 'तो भाई, तुम मुझको सिर्फ़ १५ सीटें दे दो।' रफ़ी साहब ने उत्तर दिया, 'पन्द्रह तो बहुत मुश्किल हैं !' मालवीयजी ने कहा, 'फिर तुम ही बताओ ! मैं तो तुमसे पूछ रहा था कि कितनी सीट दे सकते हो। तुमने मुझ पर छोड़ दिया तो मैंने १५ माँग लीं। यदि १५ नहीं दे सकते तो बताओ कि कितनी दोगे ?' रफ़ी अहमद थोड़ी देर सोचकर बोले, 'जी २० या २५ दे सकता हूँ।' हमको ताज्जुब हुआ। पन्द्रह को मना कर दिया और २५ दे दीं ! यह कैसी बात करते हैं ! मालवीयजी ने कहा, 'सच ?' बोले, 'जी २० देने को तैयार हूँ।' मालवीयजी ने कहा, 'लिखना पड़ेगा !' रफ़ी साहब बोले, 'लिख लीजिये।' 'दस्तख़त करने पड़ेंगे !' बोले 'जी, अच्छा; आप लिख लीजिये।'

मालवीयजी ने चारपाई पर पड़े-पड़े तकिये के सहारे बैठकर अपने घुटने पर कागज़ रखकर एक मज़मून लिखा और लिखने के बाद श्री रफ़ी अहमद क़िदवाई को पढ़कर सुनाया। उस मज़मून का मतलब यह था : "चूँकि कांग्रेस पार्टी और कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी के राजनैतिक ध्येय एक ही हैं, इसलिए राष्ट्रीय मामलों में ये दोनों पार्टी एक ही नेता को अपना नेता मानकर काम करेंगी, परन्तु कम्युनल अवार्ड या उसके प्रासंगिक विषयों में नेशनलिस्ट पार्टी अपना अलग नेता चुनकर उसी नेता के अनुसार कार्य करेगी।" रफ़ी साहब ने कहा, 'जी हाँ, ठीक है।' फिर बोले, 'ज़रा इसमें एक 'स्पैलिंग मिस्टेक' रह गई है, उसे ठीक कर दूँ।' मालवीयजी को बहुत ताज्जुब हुआ। उनकी स्पैलिंग मिस्टेक ! वह स्वयं स्कूल-मास्टरों के मास्टर थे। बोले, 'क्या बात कहते हो रफ़ी ? तुमने सुना है, पढ़ा नहीं, देखा नहीं, स्पैलिंग मिस्टेक क्या चीज़ ?' रफ़ी बोले, 'जी हाँ, एक रह गई है, मैं ठीक कर दूँगा।' मालवीयजी इस बात

पर बहस करने लगे—'स्पैलिंग मिस्टेक कैसी ?' रफ़ीसाहब बोले—'जी, ग्रामर (व्याकरण) की रह गई होगी।' मालवीयजी को बहुत हँसी आयी, उन्होंने एक मरतबा फिर पढ़ा तमाम मज़मून; बोले, 'मिस्टेक है ?' रफ़ीसाहब बोले, लाइये, मैं ठीक कर दूँगा।' मालवीयजी ने कागज़ उनको दे दिया। उन्होंने अपनी क़लम निकाली और कुछ ठीक करके परचा मालवीयजी को वापस दे दिया। मुझे पता नहीं चला, कौन-सा शब्द ठीक किया। पर मैंने यह देखा कि परचे को देखकर मालवीयजी मुग्ध हो गए। जैसे कवि-सम्मेलन में आवाज़ें लगती हैं, मालवीयजी ने कहा, 'वाह वाह वाह, वाह, खूब खूब ठीक किया, वाह रे रफ़ी अहमद, तुम तो बहुत ऊँचे कवि निकले ! हालाँकि मेरी डोर तो तुमने हत्थे से ही काट दी, पर कविता तुम्हारी इतनी ऊँची है कि इनाम में जो कहो, दे सकता हूँ। तिवारीजी, ज़रा इसको पढ़ो ! वाह–वाह ! वाह !'

तिवारीजी ने पढ़कर आँखें मींच लीं। तिवारीजी को अपनी आँख और होठों पर इतना क़ाबू है कि बड़ी से बड़ी बात भी उनके चेहरे पर नहीं झलक सकती। न वह हँसते हैं और न रंज करते हैं। रफ़ी साहब के दिमाग़ को पढ़ना आसान था, तिवारीजी की मुद्रा को पढ़ना कठिन। कितना ज्ञान का बोझ अपने सिर में छिपाये फिरते हैं, पर बोलते ऐसे हैं मानो कुछ नहीं जानते। वैसे हर विषय के पंडित और किताबों के इतने कीड़े कि एक-एक पृष्ठ आँख मींचकर पढ़ सुनायें। आँखें किताब से ३ इंच फ़ासले पर रखकर पढ़ते हैं। शायद यही कारण है कि जो पढ़ते हैं, मन में गहरा उतर जाता है। मैंने यह परचा देखा तो रफ़ी हज़रत ने क्या होशियारी की कि 'प्रासंगिक' (अलाइक) की जगह 'सम्बन्धित' (अलाइड) लिख दिया। मैं भी इस तुरन्त-बुद्धि और सूझ पर आपे से बाहर हो गया और 'वाह-वाह' चिल्लाकर रफ़ी साहब की कौली भर ली।

ख़ैर, मालवीयजी ने समझौते पर दस्तख़त करने को उसे रफ़ी साहब को दिया। रफ़ी ने कहा, 'पहले आप कीजिये !' मालवीयजी ने कहा, 'तुम इतनी बड़ी संस्था कांग्रेस के प्रधान हो, इसलिए पहले तुम्हारे हस्ताक्षर होने चाहिए; और भाई, मेरी संस्था जो है नेशनलिस्ट पार्टी, उम्र में भी छोटी है, क़द में भी छोटी है, मैं बाद में हस्ताक्षर करूँगा।' दो-तीन प्रतिलिपियों पर हस्ताक्षर हुए। एक प्रतिलिपि श्री गोविन्द मालवीय को सुपुर्द की गई और एक

रफ़ी अहमद क़िदवाई ने अपने पास रख ली। बातचीत ख़त्म हो गई।

तीन-चार दिन बाद लखनऊ से टेलीफोन पर बोले, 'अरे त्यागीजी, एक काम और नहीं करा सकते?' मैंने कहा, 'क्या?' बोले, 'तमाम सीटों पर एक-एक उम्मीदवार को हम अपना टिकट दे चुके हैं, २० सीटें मालवीयजी भी को देनी हैं, अब २० आदमियों को हटाना पड़ेगा। किनको हटावें, यह बड़ा भारी सवाल होगा; कोई ऐसी होशियारी नहीं भिड़ा सकते कि मालवीयजी की तरफ़ कुछ अपने उम्मीदवार खिसका दो और उन्हें यह मत बताओ कि हमारे उम्मीदवार हैं। होशियारी से काम लो!' मैंने कहा, 'मालवीयजी को मालूम हो गया तो वे क्या कहेंगे?' बोले, 'बात तो हमारे-तुम्हारे बीच की है, कोई हम थोड़े ही कहने जा रहे हैं, तुम फिक्र क्यों करते हो?' मैंने कहा, 'वैल! सरदार पटेल और महात्माजी को क्या मुँह दिखाओगे?' उन्होंने कहा, 'फजूल की बात करते हो, क्या उन्हें कोई आग़ाज़ आती है?' मैंने पूछा, 'कौन-कौन से उम्मीदवार खिस-काऊँ?' बोले, 'जो भी तुम्हारी समझ में आयें। तुम इसकी फ़िक्र न करो, ज़रा बातचीत करके देखो!'

मुझ से रहा न गया और मैं सीधा लखनऊ चला गया। वहाँ सब ऊँच-नीच की बातें करके लौट आया। अपने नियम के अनुसार उस शाम को फिर मालवीयजी के पास पहुँचा। उन्होंने कहा, 'कहिये, क्या ख़बर लाये?' मैंने कहा, 'बाबूजी, बस, लखनऊ की क्या ख़बर है; बहुत तारीफ़ हो रही है आपकी। सब, कांग्रेसमैन कहते हैं कि हमारे उसूली मतभेद भले ही हों, पर राष्ट्र सबसे पहले है, उसके बाद दूसरी बातें हैं। सब आपकी प्रशंसा करते हैं। उत्तरप्रदेश में आपके मुक़ाबले का कोई नेता नहीं है। फिर आपसे मेरे जैसे छोटे-छोटे आदमी चुनाव भला कैसे लड़ते? आपने हमारे सिरों से बहुत बोझ उतार दिया। सब कांग्रेसी आपको धन्यवाद देते हैं।' मैंने आगे कहा, 'फिर भी ज़रा-सी चर्चा लोगों में है। वह कोई ऐसी नुक्ताचीनी की बात भी नहीं है, पर कुछ थोड़ी खुसपुस आपस में थी।' मालवीयजी ने कहा 'क्या? वह भी बताओ, ज़रूर बताओ!' 'कुछ लोग यह कहते थे कि बम्बई की कांग्रेस में जब मालवीयजी ने प्रस्ताव रखा था कि कम्युनल अवार्ड को स्वीकार न किया जाय बल्कि उसका बहिष्कार किया जाय तो उनकी बात गिर गई थी और वहाँ पर जब वोट लिये गए तो मालवीयजी की तरफ़ कम वोट रहे थे,

सरदार पटेल का बहुमत हो गया था। सो कुछ लोग कह रहे थे कि हमारी बदक़िस्मती है कि हम मालवीयजी के साथ थे। पटेल की पार्टी ने तो हममें से किसी को टिकट दिया नहीं, क्योंकि हमने मालवीयजी के पक्ष में वोट दिया था। गिन-गिनकर हमसे बदले लिये जा रहे हैं। ३-३, ४-४ बार हम जेल भी काट चुके, पर सरदार पटेल की शिकायत किस मुँह से करें! ख़ुद मालवीयजी भी अपने उम्मीदवार खड़े कर रहे हैं। कम से कम उनको सोचना चाहिए था कि कुछ कांग्रेस वाले भी ऐसे हैं जो इधर से भी निकाले गए और उधर से भी।'

मालवीयजी ने कहा, 'हैं! क्या हमारे कुछ ऐसे आदमी हैं जिन्होंने हमारे पक्ष में वोट दिया है?' मैंने कहा, 'ग़ज़ब करते हैं आप! बहुत-से हैं जिन्होंने आपके पक्ष में वोट दिया था। इसमें पूछने का क्या सवाल!' मालवीयजी ने कहा, 'हरे-हरे, हरे-हरे! ऐसे हैं? तो फिर मुझे उनके नाम दो, उनको ज़रूर खड़ा करूँगा; क्या सरदार पटेल ने उनको टिकट नहीं दिया?' 'मैंने कहा, नहीं, सबको बीन-बीन कर बाहर कर दिया।' (यहाँ सरदार साहब से क्षमायाचना करता हूँ।) मालवीयजी बोले, 'हरे-हरे, हरे-हरे! बड़ी ग़लत बात की, मुझे बहुत दुःख हुआ सुनकर, ऐसा कर दिया? त्यागीजी, तुम मुझे उनके नाम बताओ!' मैंने कहा, 'कितने बताऊँ! आदमी तो बहुत हैं, कितने नाम बताऊँ?' बोले, 'भाई देखो, ५—६ नाम हरिजी (पं० हृदयनाथ कुँजरू), चिन्तामणि (सी० वाई० चिन्तामणि), चौधरी मुख्तारसिंह आदि को तुम मेरे लिए छोड़ दो और बाक़ी १४—१५ नाम, जो भी तुम उपयुक्त समझो, बता दो!' मैंने कहा, 'बताऊँगा कल, सोचकर।'

वहाँ से वापस आते ही क़िदवाईसाहब को टेलीफोन किया—'बात यहाँ तक पक गई है; अब आप बताइये कि कौन-कौन नाम दूँ?' वह तो नवाब-बेमुल्क थे; बोले, 'कोई दे दो, कुछ पूरब के, कुछ पश्चिम के। जो तुम्हारी समझ में आयें, दे दो।' मैंने पूछा, 'क्या सारी जालसाज़ी मेरे ही हिस्से में आयी है? आप तो कुर्ता झाड़ के अलग खड़े हो जायेंगे, पटेल और गांधीजी के दरबार में चाँद-छिताई मेरी होगी।' मेरे मना करने पर बोले, 'अरे, क्या बेवक़ूफ़ी की बातें करते हो; ज़रा हिम्मत से काम लो, किसी ग़ैर को धोखा थोड़ा ही दे रहे हो!'

यह बात मेरे जी को चिपक गई। मैंने अपनी मंशा से १५-२० नाम दे दिए। एक नाम मुरादाबाद के पंडित शंकरदत्त शर्मा का था, एक झाँसी के श्री धुलेकर का। इसी तरह औरों के नाम भी दे दिए। पर मेरी बदक़िस्मती थी कि अलीगढ़ में अपने एक बहुत घनिष्ठ मित्र ठाकुर टोडरसिंह थे, उनका नाम भी दे दिया। वह अलीगढ़ के पुराने काम करने वाले थे और मेरठ-जेल में मेरे साथ रह चुके थे। उनका नाम देकर हमें पछताना पड़ा। मालवीयजी ने नामों की सूची लेते समय मुझे कहा भी था, 'देख लो, कहीं ऐसा न हो कि मैं किसी के पास चिट्ठी लिखूँ, और बाद में भी वह इन्कार कर दे। इसलिए पहले तुम उनसे लिखकर पूछ लो।' मैंने कहा, 'आप फ़िक्र न कीजिये, मैंने सब ऊँच-नीच सोच कर नाम दिये हैं।' फिर भी मैंने इन सब मित्रों को पत्र भेज दिया और उन्हें लिख दिया—'मालवीयजी को मत बताना, असल में आप कांग्रेस के ही उम्मीदवार हैं, पर मालवीयजी का टिकट ले लेना। दस-पाँच हज़ार रुपये भी उनसे मिल जायेंगे और मालवीयजी से मुक़ाबला भी न होगा। बिना मुक़ाबले के चुन जाओगे। इसी आशा से आपका नाम मालवीयजी को दे रहा हूँ।'

मैंने सबको सच्ची बातें लिख भेजीं, पर रफ़ी साहब का क़तई ज़िक्र नहीं किया। और आइन्दा जाल-बट्टा करने वालों को मेरी यह वसीयत है निःस्वार्थ भाव से केवल परोपकारार्थ यदि किसी को कभी कुछ कच्चा-पक्का काम कराना पड़ जाय तो उस काम में अपने किसी साथी को न फँसाना, बल्कि उसके दोषों को भी स्वयं ओढ़ लेना। ऐसा करने से पाप कुछ हल्का हो जाता है और आत्मा भी कम मलिन होती है; पर सबसे ज़रूरी शर्त यह है कि ऐसा जाल-बट्टा केवल उन्हीं के साथ करना चाहिए, जिनसे इतना गहरा अपनापन हो कि उनकी ख़ातिर अपनी जान भी दे सको। यानी बाप और माँ की जेब से पैसे चुराने में पाप है भी तो बहुत कम है।

पन्द्रह-बीस दिन बाद क्या घटना घटी कि वह जो अलीगढ़ के हमारे दोस्त ठाकुर टोडरसिंह थे, उन्होंने सीधा एक पत्र महात्मा गांधी को उर्दू में लिख भेजा। लिखा, "एक रात मवेशी (बैल) मुसम्मी टोडरसिंह को श्री महावीर त्यागी ने बक़ीमत १० हज़ार रुपये फरोख़्त कर दिया, मालवीयजी के हाथ; और उसका रस्सा आपके खूँटे से खोलकर मालवीयजी के खूँटे से बाँध दिया, और उस पर हिदायत यह है कि 'प्रोटेस्ट' मत करना और किसी

से कहना मत, इसके लिए दस हज़ार रु० चुनाव लड़ने के लिए दिया जा रहा है। इस हैसियत पर उतर आई है आपकी कांग्रेस !" महात्मा गांधी ने (जो मुझ पर कृपा रखते थे) वह पत्र सरदार पटेल के पास भेज दिया, क्योंकि वह केन्द्रीय संसदीय बोर्ड के प्रधान थे। अच्छा किया, अख़बार (हरिजन) में नहीं लिखा, वरना मैं तो उसी समय मिट्टी में मिल गया होता। सरदार पटेल ने तुरन्त संसदीय बोर्ड की बैठक बुलायी बनारस में। जवाब-तलबी हुई कि यह किसके हुक्म से फ़ैसला किया गया ? सरदार पटेल यह चाहते थे कि मालवीयजी के विरोध में उम्मीदवार खड़े किये जायँ और एक-एक जगह मालवीयजी को हराया जाय। श्री जवाहरलाल, टण्डनजी, सम्पूर्णानन्दजी आदि किसी को यह समझौता पसन्द न था। और सरदार पटेल को तो इस पर बहुत ही ग़ुस्सा था—'यह किसकी अनधिकार चेष्टा है कि इस प्रकार का फ़ैसला कर लिया ?'

मैंने टोडरसिंह के पत्र की बाबत रफ़ी अहमद ने पूछा तो वह बोले, 'कह दो, मैंने कोई चिट्ठी नहीं लिखी।' मैंने कहा, 'अरे, क्या कहते हो ! चिट्ठी पर मेरे हस्ताक्षर हैं !' कहने लगे, 'मना कर दो, कह दो, मेरे दस्तख़त नहीं हैं, कौन पूछता है ?' वह इस क़िस्म की बातें मज़ाक-मज़ाक में कर दिया करते थे। मैं अजीब धर्म-संकट में फँस गया। इधर सरदार पटेल से मैत्री और उधर रफ़ी साहब हर बुरे-भले काम के साथी। न सरदार से झूठ बोल सकता था, न रफ़ी से कोई बात छिपा सकता था। मैंने रफ़ी से स्वीकृति लेकर सारा कच्चा चिट्ठा सरदार साहब को सुना दिया। फिर क्या था, रफी अहमद क़िदवाई और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की वह ख़बर ली गई कि वे उम्र-भर याद रखेंगे। पर यह तय होने पर भी कि मालवीयजी के साथ कोई समझौता न किया जाय, परिस्थिति वही रही, जो पहले थी। रफ़ी सुनते सबकी थे, पर करते अपने मन की थे। इसी तरह तो 'कण्ट्रोल' (गेहूँ-चीनी का) हटा गए। सब अर्थ-शास्त्र के पंडित चिल्लाते रहे कि पंचवर्षीय योजना बिना कण्ट्रोल के नहीं चल सकती। रफ़ी उनसे हाँ करते रहे, पर श्री राजगोपालाचारी से अन्दर-अन्दर साज़िश करके चुपके से कण्ट्रोल हटा दिया।

ज़रा हिम्मत और सूझ-बूझ तो देखिये उस सफल राजनीतिज्ञ की; जैसे ही बनारस की पेशी से लौटा कि जनाब का टेलीफोन आया, 'अरे, रुपये की बहुत

ज़रूरत है, ज़रा मालवीयजी से १५-२० हज़ार रुपये तो दिलवाओ !' मैंने कहा, 'भाई रफ़ी, बड़ी मुश्किल से बचा हूँ, परसों ही तो सरदार पटेल से तोबा करके आया हूँ, फिर मुझे फँसवाओगे ?' बोले, 'नहीं, ज़रा होशियारी से काम लो; रुपया मत माँगो, बल्कि उनसे कहो कि बनारस में लोग चर्चा कर रहे थे कि मालवीयजी हिन्दुओं के हितों के बड़े रक्षक बनते हैं और हरिजनों को उबारने का परिश्रम करते हैं, पर अपनी पार्टी के टिकट पर किसी हरिजन को खड़ा नहीं किया।' मैंने कहा, 'वह तो मैं कह दूँगा, पर उससे रुपये का क्या ताल्लुक़ ?' बोले, 'अरे, कहकर तो देखो !' मैं महामना के पास फिर चला गया। सरदार पटेल से वायदा करके आया था कि आइन्दा से क़िदवाई के चक्कर में न फँसूँगा। पर कोई जान-बूझकर थोड़े ही फँसा करता था, मुझे स्वयं भी तो ऐसे कामों में कुछ मज़ा आता था, उन दिनों बिना कुछ ऊटपटाँग किये अन्न नहीं पचता था। मैंने महामना से वेद-मंत्र की तरह रफ़ी साहब की बात दोहरा दी।

मालवीयजी को इतना धक्का लगा कि बल खाकर तकिये पर गिर पड़े और लम्बी साँस भरकर बोले, 'अनर्थ हो गया ! भयंकर भूल हो गई। अब क्या हो सकता है ?' फिर कहा, 'त्यागीजी, तुम तुरंत लखनऊ जाओ और रफ़ी से कहो कि हमारी लाज रखने के लिए दो सीटें हमें और दे दे और अपने हरिजन उम्मीदवारों को तैयार कर दे कि वे हमारे टिकट को स्वीकार कर लें !' मैं हक्का-बक्का सा रह गया। सोचने लगा कि रफ़ीभाई भी क्या कोई 'औलिया' हैं जो दूसरों के मन को भाँप लेते हैं। महामना ने श्रीगोविन्द मालवीय को आज्ञा दी कि मेरे जाने-आने के लिए फर्स्ट क्लास के खर्च का प्रबन्ध कर दें। मेरे मना करने पर भी मालवीयजी ने मुझे १००) दे दिए। मैंने उस रुपये को ऐसे प्यार और उत्साह से स्वीकार किया जैसे बेटा बाप से लेता है। खूब खाता-पीता और सिगरेट का धुआँ उड़ाता हुआ लखनऊ पहुँचा। दोस्तों को सब क़िस्से सुनाये और मुफ्त का रुपया था, खूब चाय-पानी उड़ाया। रफ़ी साहब के बालेख़ाने पर पहुँचा। हँसते-हँसते होश न आया; तब रफ़ी ने मालवीयजी को टेलीफ़ोन किया—'४ हरिजन आपको दे दूँगा। पर ऐसे दूँगा कि जिनके सफल होने की हमें आशा नहीं है ; क्योंकि हमारे पास रुपये की कमी है और उनपर कम से कम ५० हज़ार खर्च होगा।' मालवीयजी ने कहा, 'इसकी फ़िक्र न करो, मुझे चार हरिजन दे दो तो मेरा कल्याण हो जायगा। खर्चा करने और

जीतने की ज़िम्मेवारी मुझ पर है ।' फिर ४ नाम मालवीयजी को और दिये और उनका चुनाव-ख़र्च ले लिया । जितना भी रुपया आया, वह सब तो उन हरिजनों पर खर्च क्या होता, कुछ उन पर हो गया, बाक़ी औरों पर ।

चुनाव समाप्त होगया और हम लोगों का बहुमत हुआ । एक प्रान्त में नहीं, बल्कि 'आसमानी नेता' के कहने के अनुसार भारत-भर में हमारा बहुमत हो गया । महामना मालवीयजी, श्री रफ़ी अहमद क़िदवाई और सरदार पटेल के चरणों में मेरा हज़ार-हज़ार प्रणाम है ! इन्होंने भारत की जो सेवाएँ की हैं, उन्हें भुलाया नहीं जा सकता । परमात्मा हमें उन बुज़ुर्गों के चरण-चिह्नों पर चलने की क्षमता दे !

—महावीर त्यागी

परोपकाराय सतां विभूतयः

मैं विद्यार्थी था, तब पं० मदनमोहन मालवीयजी का नाम सुना करता था। जब वे बाबू रामकाली चौधरी के यहाँ ठहरा करते थे, दो-एक बार उनके दर्शन भी हुए थे।

मेरे स्वर्गवासी मामा डाक्टर छन्नूलाल ने, जो काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के उन दिनों सभापति थे, स्वास्थ्य-रक्षा पर एक लेख, सभा के एक अधिवेशन में, शायद सं० १८९५ में, पढ़ा था। सभा की वह बैठक कारमाइकल लाइब्रेरी के कमरे के बाहर, पच्छिम की तरफ के चबूतरे पर हुई थी। उसमें मालवीयजी भी आये थे। डाक्टर साहब ने स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से भारतीयों के रहन-सहन की बड़ी आलोचना की थी। मालवीयजी ने उस समय एक छोटा-सा मधुर व्याख्यान देकर कहा था—"डाक्टर साहब ने बातें सब ठीक कहीं हैं पर 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्' सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया है।" जहाँ तक मुझे याद है, मैंने उनका यह पहला ही व्याख्यान सुना था। उस व्याख्यान को सुनने के बाद मैं उनके पास, गोस्वामी भवानीपुर के यहाँ, जहाँ वे ठहरते थे, पहुँचा। उन दिनों पं० मथुराप्रसादजी मिश्र अपने समय के बड़े प्रसिद्ध हेडमास्टर माने जाते थे। वे पेंशन लेकर दशाश्वमेध घाट पर एकान्तवास करते थे। वे अपने अँगरेजी-उच्चारण के लिए प्रसिद्ध थे। मुझ पर उनकी बड़ी कृपा थी। एक दिन मैं मालवीयजी को उनके पास ले गया। दोनों एक-दूसरे से बहुत प्रेम और श्रद्धा से मिले।

उन्हीं दिनों नागरी-प्रचारिणी सभा के लिए मैंने जापान का इतिहास लिखा था। मालवीयजी ने मुझसे पूछा कि "ओकाक्यूरा की नयी पुस्तक 'Japan by the Japaneas' पढ़ी या नहीं?" मैंने कहा, "वह पुस्तक मँहगी है, इसलिए मैं उसे पा नहीं सका।" इसी प्रकार बातचीत करता मैं उनके साथ काशी-स्टेशन तक गया। वे प्रयाग जाने के लिए रेल में बैठ गए और कुछ लोगों से

बातचीत करने लगे। रेल छूटने ही वाली थी, कि उनके क्लर्क ने धीरे से मेरे हाथ में कुछ रुपये देने चाहे और कहा कि मालवीयजी की आज्ञा से मैं जापान-सम्बन्धी पुस्तक ख़रीदने के लिए दे रहा हूँ। मैंने रुपये लेने से इनकार किया। क्लर्क ने आग्रह किया, इतने में रेल चल दी।

अद्भुत त्याग

दिसम्बर, १९२५ की कांग्रेस बनारस में हुई। उसके साथ ही सोशल कान्फ्रेंस का भी अधिवेशन हुआ था। कान्फ्रेंस के लिए सब प्रबन्ध हो गया था। बम्बई-हाईकोर्ट के जज सर नारायण चन्दावरकर सोशल कान्फ्रेंस के प्रधान मंत्री थे। उनके ठहराने का भार स्वर्गवासी राजा माधवलाल ने अपने ऊपर लिया था। जिस दिन प्रातःकाल सवेरे चार बजे उनको काशी पहुँचना था, उसके एक दिन पहले शाम को तार द्वारा मालूम हुआ कि श्री चन्दावरकर बड़े सवेरे पहुँचेंगे। कांग्रेस राजघाट के क़िले पर हुई थी, वहीं राजा माधवलाल का खेमा था। मैं रात को उनके यहाँ पहुँचा, उनसे भेंट नहीं हुई। उस घबराहट में मैं राजा माधवलाल के लोहरावीर वाले बग़ीचे में गया। वहाँ भी वह नहीं मिले। वहाँ कांग्रेस के मनोनीत सभापति श्री गोखले ठहरे हुए थे। मैं उनसे मिला और मैंने प्रार्थना की कि वे सर नारायण को अपने यहाँ ठहरा लें। उन्होंने कहा कि सर नारायण के लिए पूरा मकान चाहिए। वे महादेव (रानाडे) की तरह नहीं हैं कि किसी के साथ थोड़ी जगह में निर्वाह कर लें। बिना कुछ प्रबन्ध किये ही ईश्वर पर भरोसा कर मैं सवेरे तीन बजे काशी-स्टेशन पर पहुँचा। मैं अत्यन्त व्याकुल था कि क्या करूँ; रेल आ गई, पर संयोग से सर नारायण न आये। वे मुग़लसराय में रह गए और उन्होंने अपने नौकरों से कहला भेजा कि मैं दूसरी रेल से जो तीन-चार घंटे बाद आने वाली थी, आऊँगा। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया और पाँच बजे फिर राजा माधवलाल के खेमे में गया। दिसम्बर के जाड़े का सवेरा था, मालूम हुआ कि अभी सो रहे हैं। पीछे की तरफ से खेमे में मालवीयजी दिखलायी दिए। वे शौचादि से उसी समय निवृत्त हुए थे। मुझे देखते ही उन्होंने पूछा—"इतने सवेरे आये कैसे ?" मैंने अपनी कठिनाई पेश की, तो हँसकर बोले, "सर नारायण को इसी खेमे में ले आओ।" यह कहते ही वे खड़े हो गए और उन्होंने नौकर से कहा, "सब असबाब सामने के पेड़ के नीचे ले चलो !" मैंने उन

से प्रार्थना की कि वे ऐसा न करें, कहीं न कहीं बन्दोबस्त हो ही जायेगा। परन्तु उन्होंने न माना। स्वयं भी असबाब उठा कर रखना शुरू कर दिया और मुझसे कहा, "जाओ, स्टेशन से उनको ले आओ।" रेल का समय निकट था। मैं सर नारायण को थोड़ी ही देर में ले आया। वे उसी खेमे में ठहर गए। दूर के दो पेड़ों के नीचे पर्दा लगाकर मालवीयजी ने अपना प्रबन्ध कर लिया। दिन चढ़ने पर बहुत-से लोगों ने मालवीयजी को उस पेड़ के नीचे देखा।

रात के समय स्त्री की रक्षा

एक दिन रात के एक बजे मालवीयजी हिन्दू-स्कूल के बोर्डिंग हाउस, जिसमें मैं रहता हूँ, पधारे और तीन-चार लड़कों को अपने साथ मोटर पर ले गए। एक घण्टे के अन्दर उनको स्वयं लाकर पहुँचा गए। पता लगा कि जब वह बनारस-स्टेशन पर उतरे थे, उन्होंने देखा कि दो बदमाश एक बच्चे वाली स्त्री के पीछे लगे हैं और वह उनसे बचने का प्रयत्न कर रही है। वह उस स्त्री के साथ हो लिए और वह जब इक्के पर बैठ गई, तब उन्होंने उसका पता जान लिया। बोर्डिंग हाउस के लड़कों को अपने साथ ले जाकर उन को उस स्त्री का पता लगाने के लिए छोड़ दिया। लड़कों ने पता लगा लिया। पहले तो उस स्त्री ने डर कर दर्वाज़ा बन्द कर लिया और समझा कि वही बदमाश उसके पीछे पड़े हैं; परन्तु जब उसको मालूम हुआ कि मालवीयजी ने उसकी रक्षा की है और वह यह जानने के लिए बाहर खड़े हैं कि वह घर पहुँच गई अथवा नहीं, तब वह प्रसन्न हो गई और उसने तुरन्त दरवाज़ा खोल दिया।

—रामनारायण मिश्र

आधुनिक भारत के निर्माता

पं० मदनमोहन मालवीय, जिन्हें लोग आमतौर पर केवल 'मालवीयजी' के नाम से अधिक जानते हैं, चोटी के राष्ट्रीय नेताओं में से एक थे। जितनी श्रद्धा और जितना आदर उनके लिए शिक्षित वर्ग में था, उतना ही साधारण जनता में भी था। देश की जनता में जितने लोकप्रिय मालवीयजी थे, उतना गांधीजी और लोकमान्य के सिवा शायद ही कोई अन्य नेता रहा हो। मालवीय जी की विद्वत्ता असामान्य स्तर की थी और वे अत्यन्त सुसंस्कृत व्यक्ति थे। फिर भी विनम्रता एवं शालीनता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। अपने युग के वे सर्वश्रेष्ठ वक्ता थे एवं हिन्दुस्तानी तथा अँगरेज़ी दोनों में ही निष्णात थे।

उनके स्तर के किसी अन्य नेता के पास जन-साधारण की पहुँच इतनी सरल नहीं थी, जितनी मालवीयजी के पास। लोग उनके साथ इतने प्रेम से बात कर सकते थे मानो वे उनके पिता, बन्धु अथवा मित्र हों। निर्धनों एवं पीड़ितों की सेवा-सहायता करना उनके जीवन का आदर्श ही नहीं था, वरन् उनके जीवन की वास्तविकता भी थी। लोक-सेवा कार्य उनके लिए लोकप्रियता अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त करने का साधन नहीं था। गांधी-युग से पहले राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में मालवीयजी का स्थान अद्वितीय था और गांधी-युग में भी पहले की भाँति ही वे जनता के विश्वास-भाजन बने रहे। इतनी शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त होते हुए भी वे असाधारण रूप से विनम्र थे। अहंकार अथवा गर्व उनके मन में लेशमात्र भी नहीं था। जनता-जनार्दन को उनसे अधिक अपना देवता मानने वाला व्यक्ति अभी तक मेरी दृष्टि में नहीं आया।

मालवीयजी का शरीर भव्य एवं सुन्दर तथा उनका व्यक्तितत्व अत्यन्त प्रभावोत्पादक था। किन्तु वे वेश-भूषा में ही नहीं, अपितु खान-पान, रहन-सहन तथा व्यवहार में भी सादगी की मूर्ति थे।

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाँति यद्यपि विदेशों में उनकी ख्याति अधिक नहीं फैली, फिर भी उन्होंने हिन्दू धर्म के सर्वोत्तम तत्त्वों को संसार के समक्ष रखने में महान् योगदान दिया। प्राचीन ऋषि-मुनियों की भाँति वे एक दृढ़ आस्तिक तथा धर्मपरायण व्यक्ति थे, किन्तु बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय में उन्होंने शिक्षा की आधुनिक पद्धति तथा साधनों का पूरा उपयोग किया। वे उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में भी आधुनिक तकनीक एवं पद्धति अपनाने के पक्ष में थे। जीवन-पर्यन्त वे युवकों की उन्नति के लिए चिन्तित रहे। उनका जीवन युवकों के लिए एक महान् प्रेरणा-स्रोत था। पं जवाहरलाल नेहरू का यद्यपि कई रातनैतिक मामलों में मालवीयजी से मतभेद रहा, किन्तु उन्होंने मालवीयजी के सम्बन्ध में लिखा है :

"जहाँ तक भारतीय राजनीति का सम्बन्ध है, मेरे बचपन की अत्यन्त प्रारम्भिक स्मृतियाँ पं० मदनमोहन मालवीय के साथ सम्बद्ध हैं।"

पं० जवाहरलाल नेहरू पुन: लिखते हैं:

"मालवीयजी एक महा-मानव थे। वे उन लोगों में से थे जिन्होंने आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता की नींव रक्खी।"

इसी प्रकार महात्मा गांधी, जिनका बाद में मालवीयजी के साथ काफी राजनैतिक मदभेद रहा, उन्हें बराबर अपना बड़ा भाई मानते रहे। वे मालवीय जी को 'आधुनिक भारत का निर्माता' कहा करते थे।

अद्वितीय गुणागार

मुझे संसार के कई महान् व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है—जैसे मिस्टर (बाद में लार्ड) एस्क्विथ, मिस्टर लायड जॉर्ज, मिस्टर मौण्टेग्यू, मिस्टर रैम्जे मैक्डानल्ड, मिस्टर ऐटली, मौन्शियर क्लीमैनशियो (फ्रांस-केसरी), जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, मिस्टर डी० वेलरा, फील्ड-मार्शल हिण्डनबर्ग, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय तथा अन्य अनेक छोटे-बड़े महापुरुष। किन्तु एक ही व्यक्ति में अनेक महान् गुणों का एक साथ समावेश जैसा मैंने मालवीयजी में देखा, वैसा अब तक किसी अन्य

महापुरुष में देखने को नहीं मिला।

लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी की भाँति मालवीयजी सदा सत्य पर आरूढ़ रहे। किसी भी राजनैतिक अथवा सामाजिक सफलता के लिए उन्होंने असत्य का आश्रय नहीं लिया। बड़े से बड़े साध्य के लिए भी वे अनुचित साधनों का सहारा लेने के पक्ष में नहीं थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि झूठ, द्वेषपूर्ण प्रोपेगेंडा तथा कपटपूर्ण हथकंडों के द्वारा बड़ी से बड़ी सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा उच्च तथा उचित साधनों का प्रयोग अधिक महत्त्वपूर्ण है।

बम्बई के व्यापारियों से चंदा

पहले-पहल मालवीयजी को अधिक निकटता से देखने का सुअवसर मुझे सन् १९१५ में मिला। उन दिनों वे अपने बनारस विश्व-विद्यालय के लिए रुपया इकट्ठा करने के निमित्त बम्बई पधारे थे। उनके सम्मान में कई सभाओं का आयोजन किया गया था। एक सभा मूलजी जेठा मार्केट में भी आयोजित की गई, जो कपड़े का भारत-भर में सबसे बड़ा थोक मार्केट है। इस सभा के सभापति सर मनमोहनदास रामजी थे। वहाँ जिस तरह व्यापारी वर्ग के लोग मालवीयजी के चमत्कारी व्यक्तित्व से प्रभावित हुए और जिस तरह उन्होंने दिल खोलकर मालवीयजी को रुपया दिया, मैं उसे कभी नहीं भूल सकता। मेरे पिताजी भी उनमें से एक थे।

वायसराय की कौंसिल में

दूसरी बार उन्हें अधिक देर तक देखने का अवसर मुझे शिमला में मिला। यह बात सन् १९१७ की गर्मियों की है। उस साल मार्च में मैं बहुत बीमार हो गया था और पिताजी ने स्वास्थ्य-लाभ के लिए मुझे शिमला भेज दिया था। मेरे पास पर्याप्त अवकाश था; मैं अपना समय राजनैतिक तथा धार्मिक साहित्य के अध्ययन में व्यतीत करने लगा। इसी सिलसिले में मैं लगभग प्रतिदिन दोपहर के बाद इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में जाता था।

वायसराय महोदय इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल की बैठकों का सभा-

पतित्व किया करते थे और चूँकि शिमला उन दिनों भारत सरकार की ग्रीष्म-कालीन राजधानी होती थी, इसलिए कौंसिल की बैठकें गर्मियों में वहीं हुआ करती थीं। कौंसिल के अधिकांश सदस्य अँगरेज़ होते थे जो या तो नागरिक अथवा सैनिक विभागों के उच्च अधिकारी होते थे, या ब्रिटिश व्यापार एवं उद्योगों के प्रतिनिधि। भारतीय सदस्यों की संख्या बहुत कम होती थी। और जो थोड़े-से भारतीय सदस्य होते भी थे वे भी ब्रिटिश नौकरशाही के पिछलग्गू होते थे। केवल इने-गिने राष्ट्रीय नेता ही कौंसिल के सदस्य होते थे। मालवीय जी उनमें से एक थे।

जब कौंसिल का ग्रीष्मकालीन सत्र समाप्त होने वाला था तो उससे कुछ दिन पहले एक अजीब घटना घटी। वायसराय लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड सहसा बीमार हो गए और उनके स्थान पर पंजाब के गवर्नर, सर माइकेल ओडायर, कौंसिल की बैठकों की अध्यक्षता करने लगे। एक दिन मालवीयजी किसी सरकारी वित्तीय माँग पर बोल रहे थे। अपने भाषण में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि वायसराय तथा उनकी सरकार को चाहिए कि वे ब्रिटिश मंत्रि-मंडल को प्रेरित करे कि वह भारत को पूर्ण सत्तायुक्त डुमीनियन बनाने के लिए एक निश्चित तिथि की घोषणा कर दे।

यहाँ वह बात समझ लेनी आवश्यक है कि प्रथम विश्वयुद्ध ने, जो अगस्त १९१४ में योरोपीय राष्ट्रों के मध्य शुरू हुआ था, सन् १९१६ की गर्मियों में ब्रिटेन तथा उसके मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध चिन्ताजनक मोड़ ले लिया था। महीनों तक मित्र-राष्ट्र निरन्तर पराजित होते रहे थे और उन्हें धन-जन की भारी हानि उठानी पड़ी थी। कई महत्त्वपूर्ण इलाके भी उनके हाथों से निकल गए थे। भारत के पास चूँकि विराट् जन-शक्ति थी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों से युद्ध में सहायता देने की अपील की और उन्हें वचन दिया कि युद्ध की समाप्ति के बाद उन्हें अपने देश के शासन में प्रमुख भाग दे दिया जायेगा। युद्ध की स्थिति और ब्रिटिश सरकार के वचन का भारतीयों पर समुचित प्रभाव पड़ा। अनेक प्रमुख भारतीय बम्बई की एक सभा में एकत्रित हुए और उन्होंने ब्रिटिश सरकार के वचनों पर पूरा विश्वास करके यह पेशकश स्वीकार ली। फलस्वरूप भारत के प्रत्येक प्रान्त से लाखों की संख्या में भारतवासी सेना में भर्ती हो गए।

किन्तु सन् १९१७ की गर्मियों तक युद्ध का पासा पलट चुका था। अब मित्र-राष्ट्रों की जीत पर जीत हो रही थी। भारतीय सेनाओं ने टर्की से उसका समस्त मध्य-पूर्वी साम्राज्य छीन लिया था। इसके अतिरिक्त योरोपीय समर-क्षेत्र में भारतीय सेनाओं ने न केवल शत्रु की बढ़ती हुई सेनाओं की प्रगति रोक दी थी, अपितु प्रत्येक मोर्चे पर शत्रु के हाथों से सैकड़ों मील का क्षेत्र भी वापस ले लिया था।

भारतीय सेना के वीरतापूर्ण कारनामों को ब्रिटिश मंत्रि-मंडल तथा अन्य अनेक ब्रिटिश राजनैतिक नेताओं ने तो स्वीकार किया ही था, साथ ही फ्राँस तथा इटली की सरकारों ने भी भारतीय सैनिकों के त्याग और बलिदानों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी।

ब्रिटिश सिंह को खुली चुनौती

मालवीयजी अपने सुझाव के समर्थन में उपर्युक्त तथ्यों पर बल दे रहे थे, तो सर ओडायर अध्यक्ष-पद से मालवीयजी को यह कहकर निरन्तर टोकते रहे कि भारतीय सेना की ये सफलताएँ ब्रिटिश सैनिक पदाधिकारियों के प्रभाव के कारण थीं, क्योंकि भारतीय सैनिक जातियाँ (जिनसे भारतीय सेना का मुख्यत: निर्माण हुआ था) अपने ब्रिटिश पदाधिकारियों का बहुत सम्मान करती हैं। भारतीय सेनाओं की सफलताओं में भारत के राष्ट्रीय नेताओं के प्रयास अथवा प्रभाव का कोई हाथ नहीं है। मालवीयजी ने, जो अपने भाषणों की मधुरता एवं नम्रता के लिए विख्यात थे, बार-बार अध्यक्ष से प्रार्थना की कि आप मुझे भाषण के बीच में न टोकें और भारतीयों की भावना का आदर करें। किंतु मालवीयजी की प्रार्थना पर ध्यान देने के बजाय सर ओडायर ने उन्हें बैठ जाने की आज्ञा दे दी। सर ओडायर के इस दुर्व्यवहार पर मालवीयजी क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने उसी समय सदन का त्याग कर दिया। जाते समय उन्होंने पंजाब के गवर्नर को तथा ब्रिटिश नौकरशाही को चुनौती दी—"मैं अब देशवासियों के समक्ष ही अपनी बात रखूँगा और एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर प्रत्येक भारतीय सैनिक—चाहे वह किसी भी मोर्चे पर लड़ रहा हो—योरोप के मोर्चे पर, मध्य-पूर्व में, या कहीं और, या वह भारत की सीमा की सुरक्षा पर ही लगा हो—अस्त्र-शस्त्र त्याग कर घर

लौट आयेगा। ब्रिटिश पदाधिकारी तो क्या, ब्रिटिश सरकार भी उन्हें रोक सके, तो रोककर देख ले !"

मिस्टर जिन्ना ने भी मालवीयजी के तुरन्त बाद सदन त्याग दिया। फिर कई अन्य नेता—जैसे, मिस्टर श्रीनिवास शास्त्री, सर दीनशा वाचा, मिस्टर बैपिस्टा—यहाँ तक कि कई राजा-महाराजा तथा कई बड़ी देशी रियासतों के दीवान भी सदन से बाहर चले आए। सबसे विलक्षण बात यह हुई कि सर शंकरन् नायर भी, जो वायसराय की एक्जीक्यूटिव कौंसिल (प्रबंधकारिणी समिति) के दो भारतीय सदस्यों में से एक थे, उठकर अपने 'चेम्बर' (निजी कक्ष) में चले गए।

जब मैं मॉल रोड पर पहुँचा तो मैंने देखा कि मालवीयजी के सदन-त्याग का समाचार जंगल की आग की भाँति क्षण-भर में ही सारे शहर में फैल गया था और हज़ारों आदमी, जिनमें अधिकांश संख्या नवयुवकों की थी, सड़क के दोनों ओर इकट्ठे हो गए थे। सब लोग मालवीयजी को स्टेशन पर जाते हुए देखने की प्रतीक्षा में खड़े थे।

उन दिनों शिमला-कालका के बीच मोटर-बसें या टैक्सियाँ नहीं चलती थीं (जैसी कि आजकल भारी संख्या में चलती हैं); केवल एक दो रेलगाड़ियाँ चलती थीं। मालवीयजी ५-३० बजे की ऐक्सप्रेस से जा रहे थे। मैं जल्दी-जल्दी चलकर गाड़ी छूटने से पहले मालवीयजी के डब्बे के सामने पहुँच गया। स्टेशन जाने वाली सड़क पर हज़ारों आदमी खड़े थे और आकाश "मालवीयजी की जय !", "भारत-माता की जय !", "स्वराज्य हमारा पैदायशी हक़ है !" के नारों से गूँज रहा था।

मालवीयजी के स्टेशन पहुँचने के तुरन्त बाद ही सर विन्सेंट स्मिथ, जो उन दिनों वायसराय की एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल के होम-मेम्बर (गृह मन्त्री) थे, एक अन्य अँगरेज़ मेम्बर के साथ वहाँ आ पहुँचे और लगभग १५ मिनट तक डब्बे के सब द्वार बन्द करके अन्दर मालवीयजी के साथ बात-चीत करते रहे। इस बीच में लोगों की भीड़ बढ़ती जा रही थी और लोग क़ाबू से बाहर हो रहे थे। मालवीयजी ने डब्बे से निकलकर लोगों से कहा कि वे

शान्तिपूर्वक अपने घरों को लौट जायें और यदि वे (मालवीयजी) तथा अन्य राष्ट्रीय नेता गिरफ्तार हो जायें, तो लोग स्वयं शान्तिपूर्वक आन्दोलन चलाते रहें।

ओडायर की अकड़

मालवीयजी उन दिनों जनता पर कितना प्रभाव रखते थे और वे कितने लोकप्रिय थे—इसका अनुमान इस बात से अच्छी तरह लगाया जा सकता है कि उनकी उपर्युक्त चुनौती से न केवल भारत की गोराशाही सरकार, अपितु इंग्लैंड की सरकार भी दहल उठी। मालवीयजी के अगले दिन इलाहाबाद पहुँचने से पहले ही सर माइकेल ओडायर को घोषणा करनी पड़ी कि कौंसिल में उन्होंने जो कुछ कहा था, यदि उससे लोगों के मन में ब्रिटिश सरकार के प्रतिज्ञा-पालन के सम्बन्ध में कोई सन्देह उत्पन्न हो गया है तो उन्हें इसके लिए खेद है। साथ ही ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि मिस्टर मौण्टेग्यू जो उन दिनों इंग्लैंड की सरकार में सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इंडिया (भारत-मंत्री) थे, कुछ ही सप्ताहों में भारत आयेंगे और यहाँ आकर भारतीयों को स्वशासन की दिशा में उत्तरदायित्व सौंपने के सम्बन्ध में विभिन्नि राजनैतिक दलों तथा जातियों के नेताओं से परामर्श करेंगे। परिणामस्वरूप मिस्टर मौण्टेग्यू थोड़े दिनों के बाद भारत आये।

नवम्बर, सन् १९१८ में प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त हो गया। मित्र-राष्ट्रों की विजय हुई। चूँकि भारतीयों ने युद्ध जीतने में महान् योगदान दिया था, इसलिए उन्हें पेरिस में होने वाले 'शान्ति-सम्मेलन' में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रित किया गया। सम्मेलन में भाग लेने के लिए भारत की ब्रिटिश नौकरशाही ने राष्ट्रीय नेताओं को आमंत्रित करने के स्थान पर अपने कुछ पिट्ठुओं को चुन लिया। इन 'प्रतिनिधियों' का जनता नाम तक न जानती थी। सरकार के इस कृत्य पर विरोध तथा रोष प्रकट करने के लिए देश-भर में अनेक सार्वजनिक सभाएँ हुईं। लोगों ने सर्वसम्मति से लोकमान्य तिलक को भारतीय प्रतिनिधि-मंडल का नेता चुना तथा मालवीयजी, मिस्टर जिन्ना तथा मिस्टर वपिस्टा के नाम मंडल के अन्य सदस्यों के रूप में प्रस्तावित किये गए।

दिल्ली कांग्रेस

सन् १९१८ की क्रिस्मस में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में बुलाया गया। उस अधिवेशन में मैं भी एक प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुआ था। लोकमान्य तिलक अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए थे, किन्तु वे इस पद को स्वीकार न कर सके। कारण यह था कि उन दिनों वे कांग्रेस के एक प्रतिनिधि-मंडल के नेता के रूप में इंग्लैंड गये हुए थे। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक ज्वाइण्ट सिलैक्ट कमेटी (सम्मिलित संसदीय समिति) निर्धारित की थी जो मिस्टर मौण्टेग्यू द्वारा प्रस्तुत स्वशासन-सम्बन्धी योजना पर विचार-विमर्श कर रही थी। उपर्युक्त प्रतिनिधि-मंडल इस समिति के समक्ष देश का राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने के लिए इंग्लैंड भेजा गया था। इसी योजना का बाद में 'मौण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार' नाम पड़ा। लोकमान्य की अनुपस्थिति में मालवीयजी को कांग्रेस के दिल्ली-अधिवेशन का सभापति मनोनीत किया गया।

मालवीयजी के साथ घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मुझे मार्शल-लॉ अधिशासन के समय तथा उसके बाद की अवधि में प्राप्त हुआ। मई, सन् १९१९ में दो उत्तरी प्रान्तों—पंजाब तथा सीमाप्रान्त—में मार्शल-लॉ घोषित कर दिया गया था। उन दिनों मुझे नौ महीने से अधिक समय तक मालवीयजी के साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

रौलट ऐक्ट

युद्ध की समाप्ति के बाद भारत को डोमीनियन-स्तर के अधिकार प्रदान करने के स्थान पर—जिसकी भारतीयों को पूरी आशा थी—भारत-स्थित ब्रिटिश सरकार ने 'रौलट ऐक्ट' नामक एक क़ानून पास कर दिया। इस क़ानून के द्वारा सरकार ने यह अधिकार प्राप्त कर लिया कि वह किसी भी व्यक्ति को कितनी ही अवधि के लिए बिना मुक़दमा चलाये या बिना कारण बतलाये जेल में डाल सकती थी, देश से निष्कासित कर सकती थी अथवा उसकी गति-विधि को नियंत्रित कर सकती थी तथा चाहे जिस की जायदाद ज़ब्त कर सकती थी।

चूँकि रौलट ऐक्ट इंग्लैंड के मंत्रि-मंडल की स्वीकृति से लागू किया गया

था, इसलिए भारत के मौडरेट (नरमदलीय) दल के नेताओं के समक्ष भी, जो अब तक भारत की ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करते आए थे, यह बात स्पष्ट हो गई कि ब्रिटिश सरकार ने युद्ध के पश्चात् भारतीयों को उत्तरदायित्व-पूर्ण स्वशासन प्रदान करने का जो वचन दिया था, उसे पूरा करने का उसका कोई इरादा नहीं है।

इस अनुचित कृत्य पर भारतीय जनता में रोष फैल गया और सारे देश में गम्भीर प्रकार के प्रदर्शन हुए। जगह-जगह हड़तालें हुईं, व्यापार बन्द कर दिया गया, विद्यार्थियों ने स्कूल-कालेज छोड़ दिए, अदालतों का बायकाट (बहिष्कार) कर दिया गया, यहाँ तक कि लोगों ने यह धमकी दे दी कि वे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारी टैक्स अदा नहीं करेंगे। दो उत्तरी प्रान्तों (पंजाब तथा सीमा-प्रान्त) में नागरिक शासन ठप्प हो गया और वहाँ मार्शल-लॉ (सैनिक अधि-शासन) घोषित कर दिया। जनरल डायर को एक प्रकार का सैनिक गवर्नर बना दिया गया और सैनिक अधिशासन की बागडोर उसके हाथ में दे दी गई।

जलियाँवाला

उन दिनों अमृतसर नगर उत्तरी भारत की समस्त राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ था। इसलिए जनरल डायर ने अपना हैडक्वार्टर अमृतसर में स्थापित कर दिया। जलियाँवाला बाग़ में एक दिन एक विराट् सार्वजनिक सभा आयोजित की गई; जिसमें मार्शल-लॉ के विरोध में लोग अपना मत प्रकट करना चाहते थे। लगभग एक लाख व्यक्ति उस सभा में भाग लेने के लिए एक-त्रित हो गए। जनरल डायर ने स्वयं अपनी कमान में ब्रिटिश सैनिकों की एक बटालियन के साथ जलियाँवाला बाग़ को जा घेरा। ब्रिटिश सैनिक अस्त्र-शस्त्रों से पूरी तरह लैस थे, यहाँ तक कि उनके पास भारी मशीनगनें भी थीं। घेरा डालने के तुरन्त बाद जनरल डायर ने लोगों को यह आज्ञा अथवा चेतावनी दिये बिना कि वे सभा भंग कर दें और सभा-स्थल से चले जायें, सैनिक दल को गोला-बारी करने की आज्ञा दे दी। परिणाम-स्वरूप कुछ ही क्षणों में लगभग ३६०० व्यक्ति मारे गए और दस हज़ार से अधिक व्यक्ति बुरी तरह घायल हुए। कई दिन तक अनेक नगरों में लोगों को उनके घरों से घसीट-घसीट कर बाहर निकाला गया और उनकी नंगी पीठ पर कोड़े लगाये गए। सैकड़ों लोगों को पेट के बल

सड़कों पर रेंगने के लिए विवश किया गया। सरकार ने विरोधियों को नंगे सिर झुलसती धूप में बिना कुछ खिलाये और बिना पानी पिलाये घंटों तक खड़ा रखा। नगरों में हर जगह—बाज़ारों में, मुहल्लों में, चौक के नुक्कड़ों पर सशस्त्र अँगरेज़ सिपाही खड़े रहते थे और जिसे भी वह चाहते, केवल मनोविनोद के लिए, बन्दूक़ का निशाना बना देते थे और मरते हुए आदमियों को ठोकरें मारते थे।

दो-तीन सप्ताहों तक इन प्रान्तों में लोगों पर इतने पाशविक और भयंकर अत्याचार किये गए कि उनका उदाहरण संसार-भर के इतिहास में कहीं नहीं मिल सकता। सारे देश की जनता तथा नौकरशाही को विश्वास हो गया कि भारत कम से कम आधी शताब्दी तक दोबारा नहीं उठ सकेगा।

ऐसे घोर अंधकार तथा निराशा के समय मालवीयजी अपने प्राणों को हथेली पर रख कर आगे आये। उन्होंने इलाहाबाद में, जहाँ वे उन दिनों रहते थे, घोषणा कर दी कि वे स्थिति की निजी तौर पर जाँच करने के लिए पंजाब तथा सीमाप्रान्त का दौरा करेंगे। उन्होंने अपने इस विचार की पूर्व सूचना वायसराय, पंजाब-सरकार तथा सीमाप्रान्त के चीफ़ कमिश्नर को भेज दी।

अलौकिक साहस

अमृतसर से २०० मील इधर अम्बाला रेलवे-स्टेशन पर उन्हें रात के समय जगाया गया और पंजाब-सरकार ने उन्हें आज्ञा दी कि वे पंजाब में प्रवेश न करें। उन्होंने साफ कह दिया कि "जब तक मुझे गिरफ्तार करके गाड़ी से न निकाला जायगा, मैं न तो गाड़ी से उतरूँगा और न वापस लौटूँगा।" और सरकार उन्हें गिरफ्तार करने का साहस नहीं कर सकी (यह उल्लेखनीय है कि गांधीजी भी इसी तरह अहमदाबाद से पंजाब आ रहे थे। उन्हें दिल्ली-स्टेशन पर ऐसा ही एक आर्डर मिला और वे साबरमती-आश्रम लौट गए।)

एक दिन, प्रातःकाल के समय, मैं अपने कुछ नवयुवक मित्रों के साथ सवेरे की सैर से वापस आ रहा था। रेलवे-स्टेशन के निकट एक मन्दिर था, जिसमें धर्मशाला भी थी। जब हम इस स्थान के समीप पहुँचे तो हमने देखा कि धर्मशाला के बाहर सड़क के किनारे मालवीयजी खड़े हैं। हम उन्हें उस

अवस्था में वहाँ खड़ा देखकर बड़े चकित हुए। जब हम उनके पास पहुँचे तो पता चला कि स्टेशन से बाहर निकल कर उन्होंने किसी ताँगे वाले से कहा कि वह किसी धर्मशाला तक पहुँचा दे। ताँगे वाला उन्हें यहाँ छोड़ गया। लगभग एक घंटे बाद जब स्नान और पूजा-पाठ से निवृत्त होकर वे शहर में जाने के लिए धर्मशाला से बाहर निकलने लगे तो एक व्यक्ति आया, उसने अपने को उस स्थान का मालिक और मुख्य ट्रस्टी बतलाया, और मालवीयजी का ट्रंक-बिस्तर बाहर रखकर उसने धर्मशाला के मुख्य द्वार पर ताला लगा दिया।

मालवीयजी ने हमसे पूछा—"क्या आप मुझे किसी अन्य धर्मशाला में पहुँचा सकते हैं ?" किसी दूसरी जगह भी उनके साथ कहीं ऐसा ही दुर्व्यवहार न हो—यह सोचकर हमने उन्हें सुझाव दिया कि वे डाक्टर सत्यपाल के मकान पर चले जायें। डाक्टर सत्यपाल को सरकार ने मार्शल-लॉ के अन्तर्गत नज़रबंद कर लिया था, इसलिए हमने सोचा कि उनका मकान खाली होगा और इस समय मालवीयजी के ठहरने के लिए बहुत उपयुक्त रहेगा। मालवीयजी ने हमारा सुझाव स्वीकार कर लिया। हम में से तीन व्यक्ति उन्हें डा० सत्यपाल के मकान पर ले गए। डा० सत्यपाल की धर्मपत्नी उस समय अकेली थीं। हमने उन्हें मालवीयजी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बतलाया और उनके अमृतसर पधारने का कारण भी समझाया। इस पर वह तुरन्त मालवीयजी को अपने घर पर ठहराने के लिए उद्यत हो गईं।

हम लोगों में, जो उन दिनों सरकार से इतने भयभीत एवं आतंकित थे, मालवीयजी के अमृतसर पधारने के कुछ ही समय के अन्दर इतना साहस भर गया कि हम किसी भी संकटपूर्ण परिणाम का सामना करने के लिए तैयार हो गए। लगभग साठ वर्ष की आयु के इस दुबले-पतले, कमनीय, प्रौढ़ व्यक्ति की आत्मा में ऐसा प्रभाव था ! उनमें नवयुवकों से भी अधिक भावना, साहस और प्राणों को उत्सर्ग करने का माद्दा था। भारत के युवक-वर्ग के लिए वे सदा एक आदर्श व्यक्ति और एक उदाहरण बने रहे।

मन्त्र की महिमा

मालवीयजी के अमृतसर पधारने के बाद कुछ ही दिनों में परिस्थिति

बहुत बदल गई। मार्शल-लॉ वापस ले लिया गया। जो लोग कुछ ही सप्ताह पूर्व बुरी तरह भयभीत एवं आतंकित थे, उनमें साहस तथा नये जीवन का संचार हो उठा। लोगों में जितनी राष्ट्रीय चेतना इस समय उत्पन्न हुई, उतनी पहले कभी नहीं देखी गई थी। मालवीयजी के साथ मेरा उन संकटपूर्ण दिनों में घनिष्ठ सम्पर्क रहा। उन्होंने राष्ट्रीय जागरण एवं उत्थान के लिए जो महान् कार्य उन दिनों किया, उसके आधार पर मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि उस कार्य के बिना स्वतंत्रता न तो इतनी आसानी से प्राप्त हो सकती थी और न ही इतनी जल्दी, जितनी हमें प्राप्त हुई; और शायद आज भी हमारे देश में डुमीनियन प्रकार का कोई शासन-तंत्र होता, और शायद वह भी न होता। गांधी और नेहरू और उनके सहयोगी समस्त नेता स्वतंत्रता-आन्दोलन को इतनी सफलता और इस सीमा तक इतनी जल्दी कभी न बढ़ा पाते, यदि मालवीयजी ने वे काम न किये होते जो मार्शल-लॉ के बाद अपने प्राणों को हथेली पर रखकर उन्होंने पंजाब में सम्पन्न किये।

मालवीयजी ने अमृतसर में अपना मुख्य कार्य-केन्द्र डा० सत्यपाल के मकान को ही बनाया। कुछ दिनों के बाद वे श्री वेंकटेशनारायण तिवारी को, जो प्रयाग सेवा-समिति के मन्त्री थे, ले आये। उसके कुछ सप्ताह बाद वे पंडित मोतीलाल नेहरू को भी अमृतसर ले आए। पंडित मोतीलालजी को उस समय तक सार्वजनिक क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त नहीं हुई थी, इसलिए लोगों ने उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। मालवीयजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप कांग्रेस का अगला वार्षिक अधिवेशन अमृतसर में होना निश्चित हुआ। इस बार भी अधिवेशन के सभापति के रूप में लोकमान्य तिलक का निर्वाचन लगभग निश्चित हो चुका था, किन्तु मालवीयजी ने उत्तर-पश्चिमी भारत तथा संयुक्तप्रान्त (अब उत्तर-प्रदेश) का दौरा करके हर जगह कांग्रेस कमेटियों को प्रेरित किया कि अमृतसर-अधिवेशन का सभापति मोतीलालजी को निर्वाचित किया जाये। स्वागत-समिति में भी बहुमत लोकमान्य के पक्ष में था, किंतु मालवीयजी ने अंतिम क्षण पर प्रतिनिधियों से मोतीलालजी के पक्ष में वोट देने की अपील की। अन्त में मोतीलालजी ही अमृतसर-कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए।

स्वयं तार देने गए

मार्शल-लॉ हटा लिये जाने के कुछ दिन बाद एक रात मालवीयजी ने कई पृष्ठों का एक बहुत लम्बा तार लिखा, जिसे वे ब्रिटिश सरकार के भारत-मंत्री (सेक्रेट्री ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इंडिया) को तथा उसकी प्रतिलिपि वाइसराय को भेजना चाहते थे। रात बहुत बीत चुकी थी और मकान में सब आदमी गहरी नींद में सोये हुए थे। मालवीयजी ने किसी को जगाया नहीं और स्वयं तार देने के लिए तारघर तक पैदल गये। तारघर वहाँ से दो मील दूर था।

मालवीयजी किसी छोटे-से-छोटे व्यक्ति को—यहाँ तक कि किसी नौकर को भी—कष्ट नहीं देना चाहते थे। इस घटना के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रहे कि मालवीयजी उस समय ख्याति के चरम बिन्दु पर पहुँचे हुए थे। मैंने जितने दिन उनके साथ काम किया, मुझे ऐसा लगता रहा मानो मैं अपनी माता की छत्रछाया में काम कर रहा हूँ। वे प्रेम और दया की मूर्ति थे, और उस समय भी, जब उनकी प्रतिष्ठा, शक्ति और लोकप्रियता अपने शिखर पर थी, उन्होंने विनम्रता और शील को कभी हाथ से नहीं जाने दिया।

रेशमी कपड़े

मैं बाल्यकाल से ही पूजा–पाठ करता रहा हूँ। एक दिन गुजराँवाला नगर में जब मैं मन्दिर से लौटकर आया, तो मालवीयजी ने मुझे पूजा के समय रेशमी वस्त्र धारण करने का परामर्श दिया। मैंने निवेदन किया कि एक रेशमी धोती-कुर्ता बनाने के लिए कम-से-कम एक लाख जीवों (रेशम के कीड़ों) की हत्या होती है। इस पर उन्होंने मुझे गले से लगा लिया और मुझे आशीर्वाद दिया। साथ ही उसी दिन उन्होंने अपने लिए बाज़ार से खादी का एक कुर्ता और एक धोती मँगवा लिए। उस दिन के बाद मैंने उन्हें कभी रेशमी वस्त्र धारण करते नहीं देखा।

ये तो गोपालकृष्ण हैं!

एक दिन कमरे में एक अत्यन्त आवश्यक बैठक हो रही थी और मालवीय

जी कोई महत्त्वपूर्ण योजना तैयार करने में लगे हुए थे। कुछ बच्चे कमरे से बाहर खेल रहे थे और बड़ा कोलाहल कर रहे थे। एक सज्जन उठकर बाहर जाने लगे ताकि बच्चों को वहाँ से हटा दें। किन्तु मालवीयजी ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया और कहने लगे—"बालकों के रूप में ही भगवान् के दर्शन हो सकते हैं, बालक तो गोपालकृष्ण हैं। हमें इन सुन्दर बाल-गोपालों को रोकने के बजाय स्वयं अपने पर नियन्त्रण रखना चाहिए।"

ऐतिहासिक भाषण

सन् १६१६ में मार्शल-ला की समाप्ति के कुछ महीने बाद जिन्हें इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में मालवीयजी के भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे यह बात कभी नहीं भूल सकते कि किस तरह मालवीयजी ने अकेले-दम असीम सत्ताधारी ब्रिटिश सरकार का मुक़ाबला किया; क्योंकि उन दिनों कौंसिल के महत्त्वपूर्ण सदस्यों में से अधिकांश व्यक्ति ब्रिटिश पार्लियामेंट की ज्वाइंट सिलैक्ट कमेटी के समक्ष भारतीय दृष्टिकोण रखने के लिए इंग्लैंड गये हुए थे (इस बात की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं)। जनरल डायर ने पंजाब की निरीह, निरपराध, निहत्थी जनता पर किस तरह भयङ्कर अत्याचार किये—इस विषय पर मालवीयजी कौंसिल में लगातार तीन दिन तक भाषण देते रहे। इस भाषण के सम्बन्ध में उन्होंने थोड़े-बहुत तथ्य कुछ काग़जों पर मोटे तौर पर नोट कर रक्खे थे, शेष सारा भाषण उन्होंने बिना किसी तैयारी के पूरा किया। इतने लम्बे भाषण में भी उन्होंने अपनी किसी बात अथवा युक्ति की पुनरावृत्ति नहीं की। मालवीयजी ने जनरल डायर के रोमांचकारी अत्याचारों पर इतना प्रबल एवं प्रभावशाली भाषण दिया कि भाषण के बीच में कई बार सरकारी सदस्य भी रो पड़े। उन दिनों में दर्शकों की गैलरी (दीर्घा) लोगों से खचाखच भरी रही। दर्शकों में बहुत-से सरकारी सदस्यों तथा अधिकारियों की पत्नियाँ भी थीं। मालवीयजी के भाषण को सुनकर कई महिलाएँ बेहोश हो गईं।

जब मालवीयजी के आरोपों का उत्तर देने की सरकार की बारी आयी तो सरकारी प्रवक्ता कोई ठोस एवं युक्ति-युक्त उत्तर नहीं दे सके, वल्कि वे अशिष्ट शब्दों पर उतर आए। पंजाब-सरकार के प्रवक्ताओं में सर माइकेल

ओडायर भी थे। मालवीयजी के भाषण के बाद कौंसिल में जो वाद-विवाद छिड़ा, उसमें सर ओडायर के साथ मालवीयजी की कई बड़ी तेज झड़पें हुईं।

सरकारी पक्ष की युक्तियों और तथ्यों पर इंग्लैंड के समाचार-पत्र तथा भारत के अँगरेज़ी समाचार-पत्र भी बहुत निराश हुए। उन दिनों केन्द्रीय सरकार के होम-मेम्बर (गृह-मन्त्री) सर विन्सेंट स्मिथ थे। उनकी धर्मपत्नी यह कहती हुई सुनी गईं कि "मेरे पति पण्डित का मुकाबला नहीं कर सकते।" (ब्रिटिश अधिकारी-वर्ग में मालवीयजी को 'पण्डित' नाम से पुकारा जाता था।) इंग्लैंड के समाचार-पत्रों ने तो मालवीयजी की तुलना ग्लैड्स्टन तथा डिज़राइली तक से की, जो उस देश के महानतम प्रधान मन्त्री माने जाते हैं। उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि एक व्यक्ति, जो न तो अँगरेज़ है और न ही जिसकी मातृ-भाषा अँगरेज़ी है, किस तरह अँगरेज़ी में ऐसी धारा-प्रवाह वक्तृता दे सकता है तथा बिना तैयारी के किसी विषय पर इतनी गहराई, इतनी बारीकी और इतने विस्तार के साथ, लगातार इतने लम्बे समय तक, भाषण दे सकता है।

असीम क्षमाशीलता

मैंने मालवीयजी को कभी किसी की भी—यहाँ तक कि अपने बड़े-से-बड़े विरोधी एवं शत्रु की भी—निन्दा करते नहीं सुना। वे कभी किसी पर क्रोध नहीं करते थे, न ही कभी सहनशीलता को हाथ से जाने देते थे। छोटे-से-छोटे आदमी की बड़ी-से-बड़ी भूल एवं अपराध पर भी वे उसे क्षमा कर देते थे। उनकी दया एवं क्षमाशीलता असीम थी।

सन् १९२५ में मालवीयजी का मोतीलालजी से राजनीतिक मतभेद हो गया था और दोनों ने अलग-अलग राजनीतिक दल बना लिए थे। उन दिनों की एक घटना, जो मालवीयजी के सहिष्णु एवं क्षमाशील स्वभाव पर प्रकाश डालती है, मुझे अब तक अच्छी तरह याद है।

उन दिनों केन्द्रीय असेम्बली के चुनाव हो रहे थे। मोतीलालजी अपने

दल के उम्मीदवारों के पक्ष में पंजाब का दौरा कर रहे थे। उन्हें पता था कि पंजाब-वासियों पर मालवीयजी का बड़ा प्रभाव है। इस प्रभाव को काटने के लिए मोतीलालजी अपने भाषणों में मालवीयजी पर व्यक्तिगत आक्षेप करते थे। अमृतसर की एक सभा में, जहाँ मालवीयजी को भाषण देना था, एक वक्ता ने मोतीलालजी पर इसी प्रकार की कीचड़ उछालनी शुरू की। इस पर मालवीयजी ने उस वक्ता को तुरन्त ही रोक दिया और आध घण्टे से अधिक समय तक अपने भाषण में मोतीलालजी की इतनी प्रशंसा की कि सुनने वाले दंग रह गए। यह है मालवीयजी की महानता का एक छोटा-सा उदाहरण! उनके व्यक्तित्व और चरित्र में उच्च से उच्च मानवीय गुण पुञ्जीभूत थे।

मालवीयजी के महान् गुणों पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है, क्योंकि उनके गुणों की न कोई थाह है, न सीमा। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में अनेक व्यक्ति मालवीयजी के सम्बन्ध में अपने संस्मरण लिख रहे हैं। इन व्यक्तियों में देश के कई महान् नेता भी सम्मिलित हैं जो सौभाग्य से अभी तक हमारे बीच विद्यमान हैं। इसलिए मैं यहाँ अपने उपर्युक्त संस्मरण देकर ही सन्तोष कर रहा हूँ।

—मुन्नीलाल मेहरा

निष्काम मालवीयजी की एक कामना

पुण्यश्लोक महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय आज हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु देश की स्वाधीनता के लिए जितना काम उन्होंने किया, उसके मुक़ाबले में कोई दूसरा राष्ट्रपुरुष दिखायी नहीं देता। मालवीयजी केवल भारत की राजनैतिक स्वाधीनता के पक्षपाती नहीं थे, वरन् वे राष्ट्र को सभी दृष्टियों से समृद्ध करना चाहते थे। देश में भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान हो, इसके लिए उन्होंने काशी में एक आदर्श हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना की। सनातनधर्म और समाचारपत्रों द्वारा देश को नव जागरण की ओर ले जाने के लिए उनके प्रयत्नों से बहुत बड़ा काम हुआ।

स्वाधीन भारत में

उन्हें आशा थी कि जब देश स्वाधीन हो जायगा, तब देश में गोरक्षा भली प्रकार हो सकेगी और गोवध क़ानूनन बन्द हो जायगा। उनकी यह कामना भारत के स्वाधीन होने के बाद भी पूरी नहीं हो सकी है। लगभग १८९७ में उनके प्रयास से पारसियों का एक शिष्टमंडल, रानी विक्टोरिया से पुण्यभूमि भारत में गोवध बन्द करने की माँग करने के लिए, लन्दन जाने वाला था। मालवीयजी जीवन-भर गो-सेवा और गोरक्षा के लिए कटिबद्ध रहे। उनके प्रयत्न से अनेक अखिल भारतीय गो-सेवी संस्थाएँ स्थापित हुईं। उन्होंने सबसे पहली बार मथुरा में गोवध बन्द होने के लिए आन्दोलन का श्रीगणेश कराया था। वे चाहते थे कि देश में आदर्श गोशालाएँ स्थापित हों। बनारस में उन्होंने एक ऐसी गोशाला स्थापित भी करायी थी। गायों के भीषण वध की बातें सुन मालवीयजी अनेक अवसरों पर रो उठते थे और उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक से, जो १९४६ में दिल्ली-प्रवास के अन्तिम दिनों उनके पास था, कहा था कि "भगवान् मुझे शक्ति दे तो इस गूँगी माँ गाय की कुछ सेवा करके मैं अपना जीवन धन्य मानूँ!" मालवीयजी के अनेक लेख और

गो-सेवा के सम्बन्ध में दिये गए भाषण राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं।

आदर्श गोशालाएँ

सन् १९३६ में नासिक में नागरिकों की एक विशाल सभा में भाषण देते हुए मालवीयजी महाराज ने कहा था कि आप अपनी गोशालाओं को विदेशों की अन्य गोशालाओं जैसी समृद्ध बनायें और देश के प्रमुख नगरों को उन गोशालाओं द्वारा शुद्ध दूध पहुँचायें। नगरों में गोशालाएँ बनाने से कोमल गौएँ दूध देना बन्द कर देती हैं, इसलिए शहरों के बाहर ऐसे स्थानों पर गोशालाएँ स्थापित की जायें जहाँ उनके लिए हरे चारे की व्यवस्था हो सके। मालवीयजी महाराज को इस बात का भी बड़ा खेद रहा कि बहुत आदमी, गाय के दूध न देने पर, उसे कसाइयों के हाथ बेच डालते हैं। और बात यहीं तक नहीं, उनका यह भी कहना था कि लोग स्वयं बछड़ों का भी दूध खुद पी जाते हैं, ऐसी क्रूरता देश में बन्द होनी चाहिए और इसके लिए दंड-व्यवस्था की जानी चाहिए।

मालवीयजी का कहना था कि अगर हम गाय को सचमुच माता समझने लगें और प्राणों का मोह न करें, तब वह दिन दूर नहीं, जब भारत में भी दूध की नदियाँ बहने लगें। जो लोग किसी धर्म-विशेष के लिए गोवध को स्वीकार करते हैं, अगर वे कुरान-शरीफ़ को देखें तो उसमें कहीं भी गोवध का संकेत नहीं है। यही कारण था कि दूरदर्शी अकबर ने गोमाता को सभी का उपकारी जीव मानकर अपने राज्य-शासन में गोवध बन्द करा दिया था। मनुष्य के दिव्य जीवन के लिए गो-सेवा अत्यन्त आवश्यक और पुनीत कर्म है। जब देश में लोग यह मानने लगेंगे, तब किसी की शक्ति नहीं कि देश में गोवध जारी रख सके।

—फतहचन्द शर्मा 'आराधक'

*

एक राजकुमार की धर्म-रक्षा

पूज्य मालवीयजी ने जहाँ देश, राष्ट्र तथा हिन्दू-समाज के प्रति बड़े-बड़े कार्य किये हैं, वहीं उनके अनेक महत्त्वपूर्ण छोटे-छोटे कार्य ऐसे भी हैं, जिन्हें प्रकाश में लाये बिना हमको महामना की पूर्ण महानता का अनुभव नहीं हो सकता। महान् आत्माओं की सच्ची महानता उनकी उन सेवाओं में छिपी रहती है जिन्हें कम लोग जानते हैं और जो जीवन-क्रम में अंगीभूत होकर अज्ञात-सी हो जाती हैं। नीचे का कथानक मालवीयजी की एक ऐसी ही धर्म-सेवा का उदाहरण है।

पूर्वकालीन मध्यभारत में सीतामऊ एक छोटा-सा देशी राज्य था, जिस पर राठौरवंशी क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। इस राज्य की स्थापना मुग़ल सम्राट् फर्रुख़सियर के राजत्व-काल में, अर्थात् अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई। अँगरेजी शासन में उसे ११ तोपों की सलामी और राजस्व-क्रम में दूसरी श्रेणी प्राप्त थी। उस समय के शासक हिज़ हाईनेस महाराजा सर रामसिंह के प्रखर व्यक्तित्व के कारण उस राज्य को श्रेणी से ऊपर महत्त्व मिलने लगा था। राजा साहब खासे पंडित और हिन्दी के सुकवि भी थे। आपकी धर्मनिष्ठा और समय-संयम राजवर्ग में प्रसिद्ध था। बीकानेर के महाराजा शार्दूलसिंह से आपकी घनिष्ठ मित्रता उक्त महाराजा के जीवन-पर्यन्त बनी रही। जैसे सीतामऊ-नरेश बीकानेर जाया करते थे, वैसे ही बीकानेर-नरेश भी विशेष अवसरों पर सीतामऊ आते थे। इससे सीतामऊ की ऊँची प्रतिष्ठा का अनुमान लगाया जा सकता है। जोधपुर राजघराने से भी सीतामऊ का समीपी व्यवहार था।

महाराजा सर रामसिंह जैसे स्वयं विद्याप्रेमी थे, वैसे ही अपने तीन राजकुमारों को भी उन्होंने उच्च शिक्षा दी। ज्येष्ठ राजकुमार श्री रघुवीरसिंह आगरा-विश्वविद्यालय के प्रथम डाक्टर और हिन्दी के यशस्वी लेखक हैं। दूसरे दोनों राजकुमार भी स्नातक (ग्रेजुएट) हैं।

मँझले राजकुमार गोविन्दसिंहजी इंदौर के क्रिश्चियन कालेज के स्टाफ से, जिसमें बहु-संख्यक प्रोफेसर मिशनरी थे, बहुत मिला-जुला करते थे। उस समाज का आपके ऊपर ऐसा जादू पड़ा कि १७३६ के मार्च में राजकुमार गोविन्दसिंह ने इंदौर में नियमपूर्वक बपतिस्मा ले लिया और वहाँ से राजा साहब को तार द्वारा सूचित कर दिया।

राजा साहब ने धर्मनिष्ठ अभिमानी राजपूत होते हुए भी उस दुर्घटना को बड़ी सुगमता से सह लिया और उनके लिए ४००) मासिक राज्य की ओर से वृत्ति घोषित कर दी। एक अभिमानी राजपूत शासक के राजकुमार के ईसाई हो जाने से राजपूताने भर में ग्लानि हुई, परन्तु सभी चुप रहे।

गोविन्दसिंहजी लखनऊ-विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर क़ानूनी शिक्षा ग्रहण करने लगे। कुछ छात्रों के संपर्क से और ईसाई जीवन के दो वर्ष के अनुभव से गोविन्दसिंह को पश्चाताप होने लगा। इसका संकेत एक सहपाठी राजपूत छात्र ने सीतामऊ-नरेश को पत्र द्वारा दिया।

गोविंदसिंह भी कुछ उग्र स्वभाव के स्वाभिमानी व्यक्ति हैं। कौन उनसे ऐसे विषय पर बात करे, यह एक समस्या थी। दरबार में मंत्रणा के अनन्तर यह निश्चय हुआ कि उक्त कार्य के लिए राज्य के हाई स्कूल के सैकण्ड मास्टर श्री रामप्रसाद पांडेय लखनऊ भेजे जायें, क्योंकि पांडेय महोदय गोविंदसिंह जी के हाई स्कूल से बी० ए० तक के ट्यूटर रह चुके थे और अपने राजकुमार छात्र पर प्रभाव वाले समझे जाते थे।

१९३९ के अक्तूबर के महीने में वह लखनऊ आये और राजकुमार से बात-चीत की। कुछ बातें तो पांडेयजी ने पिता-पुत्र के बीच स्पष्ट करायीं और राजकुमार से लिखित वचन ले लिया कि वह फिर राज-कुल में वापस आना चाहते हैं।

राजासाहब ने पांडेयजी को यह सन्देश भेजा कि यदि महामना मालवीय जी व्यवस्था दें कि राजकुमार फिर हिन्दू धर्म में लिया जा सकता है, तो उन्हें स्वीकार होगा। आर्यसमाज के माध्यम को वह अथवा अन्य राजपूत महाराजे

मानने को उद्यत न थे। यह सब स्पष्ट करने के लिए युवराज डा० रघुवीरसिंह लखनऊ आये और पांडेयजी को महाराजा साहब का मन्तव्य अवगत करा कर किसी आवश्यक कार्य से लखनऊ से बम्बई के लिए रवाना हो गए।

श्री रामप्रसाद पांडेय राजकुमार गोविंदसिंह को लेकर काशी आये और यहाँ से फिर विंध्याचल चले गए जहाँ पहाड़ी बँगले पर मालवीयजी स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। उन दिनों वे बहुत कमज़ोर हो गए थे, परन्तु विश्वविद्यालय के कार्य से अधिकारियों का ताँता-सा लगा रहता था। विशेषकर एक कालेज के कुछ छात्रों ने हड़ताल कर रखी थी, जिससे बातचीत की मात्रा अधिक हो गई थी। इसी बीच यह बात भी उपस्थित हुई। यहाँ हम पांडेयजी के ही अविकल शब्दों में उक्त धर्म-परिवर्तन अथवा शुद्धि का वर्णन अधिक उचित समझते हैं। वह लिखते हैं :

"जिस समय इस प्रसंग को लेकर मैं मालवीयजी की सेवा में उपस्थित हुआ, उस समय वे विश्वविद्यालय के ज्योतिषाचार्य श्री रामव्यास पांडेय से कुछ बात-चीत कर रहे थे। मेरे इस वार्ता के कहते ही मालवीयजी ने आश्वासन दिया कि शुद्धि का विधान है और श्री रामव्यासजी की ओर संकेत करके कहा कि यह मेरे ज्योतिषी हैं और आपको शुद्धि के कार्य में सभी आवश्यक सहायता देंगे। श्री रामव्यासजी इस प्रकार उक्त कार्य के लिए नियुक्त किये गए और इन्होंने बड़ी तत्परता एवं कुशलतापूर्वक मान्य शास्त्रियों से व्यवस्था प्राप्त की। गंगाजी के तट पर अस्सी-घाट पर दो दिनों तक हवन-पूजन हुआ और विधिवत् प्रायश्चित्त कराकर राजकुमार गोविन्दसिंह को फिर हिन्दू धर्म में प्रविष्ट कराया गया। बीच-बीच में विन्ध्याचल सभी समाचार जाता रहता था। शुद्धि की सांगोपांग क्रिया १३ नवम्बर, १६३८ को सम्पन्न हुई अवश्य ही राज-परिवार की प्रतिष्ठा के अनुरूप सभी अनुष्ठान हुए। यह संवाद 'आज' और 'लीडर' में प्रकाशित हो गया। परंतु सभी के ऊपर मालवीयजी का आशीर्वाद अभी लेना शेष रह गया था। राजकुमार को साथ ले पं० रामव्यास फिर विन्ध्याचल पहुँचे और मालवीयजी को सभी विवरण दिया। उन्हें संतोष हुआ और राजकुमार को आशीष दिया।

मेरे निवेदन पर महामना ने सीतामऊ, बीकानेर तथा जोधपुर-नरेशों को

तार दिया कि राजकुमार गोविंदसिंह की शास्त्रीय पद्धति से शुद्धि हो गई है और उन्हें राजकुल में पूर्ववत् लिया और माना जाय।

इन तारों ने राजपूताने के राजपूत नरेशों एवं नागरिकों में उल्लास उत्पन्न कर दिया। सभी राजघराने बहुत प्रसन्न हुए। उन सभी ने अपनी बड़ी प्रतिष्ठा मानी और जैसे सीतामऊ-नरेश के पास बधाई के तार आने लगे, वैसे पूज्य मालवीयजी के पास हार्दिक धन्यवाद के। बीकानेर और जोधपुर-नरेशों ने मालवीयजी के प्रति विशेष आभार प्रकट किया। इस प्रकार यह कार्य समाप्त हुआ। उक्त राजकुमार बन्धु-बान्धवों में सुखी जीवन बिता रहे हैं।"

जब मेरी इस विषय को लेकर श्री रामप्रसाद पांडेय से वार्ता होती है तब वह मालवीयजी की स्मृति से गद्गद हो उठते हैं और कहते हैं कि महामनाजी की कृपा से उन्हें राजकुल में महान् यश मिला।

इस वार्ता से मालवीयजी की धार्मिक निष्ठा का ही नहीं, उदारता का भी बोध होता है। ऐसे अनेक कार्यों द्वारा उन्होंने सनातन धर्म को प्रगतिशील बनाया। वे जैसे राष्ट्र के नेता थे, वैसे ही हिन्दू नरेशों के राजनीतिक आचार्य एवं धर्म-गुरु भी माने जाते थे। यह उनके व्यक्तित्व की व्यापक विशालता थी।

—'मधुकर'

मद-न, मोह-न

ऐसे थे महामना मालवीयजी महाराज ; उनमें न मद था, न मोह। थी एक अनथक धुन और लगन—धर्म की, जाति की, देश की—हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान की ! उनकी यही धुन और लगन उनकी महाशक्ति बन गई थी। शरीर तक से मोह नहीं, घर वालों तक का ध्यान नहीं। सब समय—सोते-जागते 'जनहित' ही उनका ध्येय था। 'ब्राह्मण का आदर्श'—'सनातन धर्म की रक्षा'—'हिन्दी-प्रेम'—'शिक्षा का लक्ष्य'—'गोभक्ति'—'हिन्दू जाति की उन्नति'—'देश को स्वतन्त्र कराने की आग'—'कौन-कौन गुन गाऊँ, उनके कौन-कौन गुन गाऊँ ?'—मैंने तो ऐसा चतुर्मुखी नेता देखा नहीं, और न अब देखने को मिलेगा।

सन् १९११ ईस्वी में—बरेली में ही मुझे उनके प्रथम दर्शन हुए थे, जब दरभंगा-नरेश के साथ वे विश्वविद्यालय के लिए धन-संग्रहार्थ आये थे। आज पचास वर्ष हो गए—वैसी उत्साहपूर्ण बरेली कभी नहीं सजी; न वैसी सवारी अभी तक निकली—दसियों स्थानों पर आरती हुई थी, बाज़ार फूलों से पट गया था।

महोत्सव में तब मैंने भी दो गीत बनाकर गाये थे। उनपर वे प्रसन्न हुए। मुझे अपने साथ चलने के लिए आग्रह किया। दूसरों को खींचने की आकर्षण शक्ति (मोहिनी) भी कितनी अधिक थी ! आज रह-रह कर याद आती है।

एक-दो वर्ष के पश्चात् फिर मुझे उनके दर्शन नाभा-नरेश के महल में हुए—जब मैं वहाँ 'कथा' कहता था और महामना विश्वविद्यालय के कार्य से पहुँचे थे—मेरी व्यक्तिगत प्रशंसा तब सार्वजनिक सभा में महामना ने इस अच्छे ढंग से की थी कि सिख-समुदाय में मेरी कथाएँ चालू हो गईं—जो रावलपिंडी के गुरुद्वारा तक होती रहीं। भाषणकला का कितना कमाल था

उनकी वाणी में—यह मुझे तभी मालूम पड़ा; यह भी समझा कि अपनों को कितना आगे बढ़ाते हैं आप। हिन्दी के साहित्यिकों में तब मैं 'आगे बढ़ने वालों' के प्रति द्वेष और विरोध की भावनाएँ ही अधिक देखा करता था। ऐसे वातावरण में आपका व्यक्तित्व मुझे मानवीय नहीं, दैवी दीखा। मैं अब अधिक मिलने लगा। एक दिन धर्म पर बोलते हुए आपने कहा—"घर में हमारा ब्राह्मण धर्म है, परिवार में सनातन धर्म है, समाज में हिन्दू-धर्म है, देश में स्वराज्य (कांग्रेस) धर्म है—और विश्व में—'मानवधर्म' है।" मैंने 'धर्म' की ऐसी व्याख्या पहले कभी नहीं सुनी थी। मेरी लेखनी नये पथ पर चलने लगी, मैं कांग्रेस का भी सदस्य बन गया।

'मालवीय पाठशाला'

अमृतसर की कांग्रेस में—बरेली से प्रतिनिधि होकर—जब मैं पहुँचा—तब वहाँ भी महामना के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने तब एक नाटिका—'भारतमाता' के नाम से लिखी थी। विषय यह था—'माता सो रही है—उसे जगाने नेता लोग आते हैं और चले जाते हैं—पूर्ण रूपेण माता नहीं जागती।' उसको मैं महामना के नाम समर्पण करना चाहता था। फर्माया—"पूरी पढ़कर सुनाओ!" एक घण्टे तक सुनी; फिर बोले—"इसलिए सुनी कि उच्चारण की कला तुममें कितनी बढ़ गई है—यह जानना चाहता था; वक्ता (कथावाचक) को इस कला का आचार्य बनना चाहिए।" सब सुनकर प्रसन्न हुए। मैंने यह अनुभव किया कि सन् १९११ से मैं 'मालवीय पाठशाला' में पढ़ाई-सी पढ़ रहा हूँ—और समय-समय पर 'परीक्षा' भी दे रहा हूँ। एक ग़लती फिर भी निकाल दी उस नाटिका में। बोले—"सब नेताओं को लाये—स्वामी दयानन्द को क्यों नहीं लाये? उन्होंने भी तो भारत को जगाया है!" मैं अवाक्-सा रह गया! सनातन-धर्मी नेता में आर्य ऋषि का इतना आदर! तभी से मैं आर्यसमाजों में जाने लगा, उनके गुरुकुलों में भी। यद्यपि हरिद्वार के ऋषिकुल की सेवा बड़ी तत्परता से—कई वर्षों से—महामना की ही प्रेरणा से—कर रहा था।

शकुन्तला का अभिनय

अगले वर्ष दिल्ली-कांग्रेस के सभापति तो महामना ही निर्वाचित हुए थे —इससे पहले भी वे इस पद को प्राप्त कर चुके थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की भाँति कांग्रेस के भी वे—प्रभावशाली नेता रहे हैं। मैं अब उनसे निःसंकोच वार्तालाप करने लगा था। अकेले में पूछ बैठा—"आप आजकल किस नेता को अधिक मानते हैं ?" तुरन्त कहा—"गांधीजी को।" स्वयं प्रभावशाली नेता होते हुए—दूसरों के प्रति उनमें कितना आदर-सम्मान था—यह मैंने तब जाना। यद्यपि गांधीजी के दर्शन मैं ऋषिकुल हरिद्वार में—उनकी काठियावाड़ी पोशाक में—कर चुका था; फिर भी—बीमारी के कारण—उन्हें दिल्ली-कांग्रेस में न देखकर—फिर दर्शन की लालसा हुई। समयाभाव होने पर भी—महामना ने पत्र लिख कर मुझे दिया और मैं सीधा बम्बई, गामबाड़ी में डा० जीवराज मेहता के मकान पर पहुँचा। दरवाज़े पर श्री देवदास का पहरा था—फिर भी महामना के पत्र ने मुझे भीतर जाने दिया। अस्वस्थ होने पर भी गांधीजी बड़े स्नेह से मिले। दिल्ली-कांग्रेस की बातें सुनीं और महामना की प्रशंसा की। मैंने देखा—शंकर और विष्णु का सा प्यार—बाबू और बापू में। महामना को हम निकट वाले बाबू कहते थे और गांधीजी को तो सभी बापू। कैसा प्रेम है इन घरेलू नामों में!—मैंने तब गांधीजी को अपना पहला—आज का प्रसिद्ध हिन्दी नाटक—'वीर अभिमन्यु' दिया। बड़े प्रसन्न हुए। "बीमारी में इससे मेरा जी बहलेगा"—कह कर रख लिया। यह भी कहा कि—"बचपन में 'हरिश्चन्द्र' और 'श्रवणकुमार' नाटकों से मुझे बड़ी प्रेरणा मिली है।" अपना 'वीर अभिमन्यु' तो मैंने 'महामना' को भी भेंट किया था; भेंट ही नहीं किया, आग्रहपूर्वक उन्हें उसका अभिनय भी दिखाया। बड़े प्रसन्न हुए थे वे भी तब। एक स्मृति उस समय की अब भी ताज़ा-सी है मेरे दिमाग़ में; नाटक देखकर बोले—"श्रीकृष्ण का अभिनय करने वाले नट से कहो—ड्रेस न उतारे; मैं अन्दर जाकर उसके चरण छुऊँगा।" ऐसा ही हुआ। यह प्रसंग मैंने इस लिए लिखा है कि पाठक समझें—भावुक भी कितने थे, मेरे बाबू!—फिर तो यह भी बताया कि बचपन में उन्होंने भी पार्ट किया था—शकुन्तला का। तब उनके अनुज श्यामसुन्दरजी बने थे—दुष्यन्त।

मुझसे कहा—"नाट्यकला (अभिनय) का जानकार दुनियादारी में अपना प्रभाव दूसरों पर बड़ी जल्दी डालता है, इस कारण भी यह कला सराहनीय है।"—इसी प्रसंग में कुछ और लिख दूँ—अपने 'परम भक्त प्रह्लाद' नाटक को भी दिखाने मैं उन्हें ले गया था—उस रात ख्वाजा हसन निज़ामी भी आये थे। वह भी नाटक देखकर बड़े पुलकित हुए थे।—समाप्ति पर मैं जब दोनों नेताओं को गजरे पहनाने आया, तो बाबू ने कहा—"हमें दे दो; विष्णु का अभिनय करने वाले नट के गले में हम यह डालेंगे।" साथ ही ख्वाजा साहब से भी कहा—"आप भी ऐसा करेंगे क्या ?"—वे चुप थे। दोनों गजरे विष्णु बनने वाले नट के गले में पहुँच गए। कैसे अच्छे ढंग से ख्वाजा साहब को भी अपने साथ खींच लिया महामना ने !

आचार धर्म का पालन

आज का जगत टाकी हाउस तब संगम थियेटर था दिल्ली का। वहीं ये नाटक दिखाये गए थे। एक शाम उसी संगम थियटर में कोई सभा थी। महामना भी पधारे थे। भाई रमाकान्त ने मुझसे कहा—"बाबू ने आज प्रातःकाल से—भोजन तो क्या, दूध तक नहीं पिया है। दिन-भर सभाओं में ही रहे हैं। मैंने याद दिलायी तो मुझे झिड़क दिया।" कैसे कर्मवीर थे महामना—खाने-पीने तक की सुध नहीं ! शाम तो थी ही—मैंने जल्दी से गाय का दूध मँगा कर—अपने रसोइये से गर्म कराया और सभा में ही जाकर उन्हें विवश किया। होश-सा आगया उन्हें, मेरा आग्रह भी न टाल सके। बोले—"अभी तो सन्ध्या भी नहीं की है।" मैंने निवेदन किया—"मेरे कमरे में उसका भी प्रबन्ध है।" यही हुआ। यह लेख पढ़ने वाले समझें कि नित्यकर्म के कितने पक्के थे बाबू !

गाय के दूध से तो उन्हें सदा प्रेम रहा है। बरेली स्टेशन पर जब भी उनकी ट्रेन आती-जाती थी—मेरे नाम तार आता था और मैं गाय का दूध लेकर पहुँचता था, कभी-कभी कोई फलाहारी खाद्य वस्तु भी ले जाता था। प्लेटफार्म पर कम्बल बिछवाकर वे खाते-पीते थे। कितनी दृढ़ता के साथ आचार-धर्म का जीवन-भर पालन किया है उन्होंने !

एक समय भारती-भवन (प्रयाग) में मैं अपनी रामायण का 'चित्रकूट में भरत मिलाप' गा रहा था। सामने के कमरे में बाबू भी सुन रहे थे। रात के दस बज चुके थे। उनके पीने को दूध आया। स्वयं न पीकर मेरे पास (व्यास-गद्दी पर ही) भिजवाया। लेकर आयी स्वयं माताजी (महामना की पत्नी)। बोलीं—"बड़ा परिश्रम किया है, अब समाप्त करो, यह दूध पियो!" ओह! कितना वात्सल्य था उनमें भी—आज उसका स्मरण आते ही गद्गद होजाता हूँ।

असीम वात्सल्य

वात्सल्य की भी एक बात और लिख दूँ। सनातन-धर्म प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधानमन्त्री भाई गणेशदत्त गोस्वामी बड़े कुशल कार्यकर्त्ता थे। समूचे पंजाब में उन्होंने अपनी प्रतिनिधि सभा और महावीर दल का डंका बजा रक्खा था। महामना को वह यह सब दिखाना चाहते थे। योजना बनी, मुझे भी बाबू ने उस यात्रा को बुलाया। हरिद्वार से रावलपिंडी तक का दौरा था। मेरी कथा के बाद बाबू का भाषण होता था। भाषण क्या होता था, —मधुर शैली में—अपनी बात—जनता से मनवाते (स्वीकृत कराते) थे। बाबू तब इस धारणा के थे कि—मन्दिरों में—बरामदे तक—हरिजन जायें और देव-दर्शन करें—विरोधी थे गोवर्द्धन-मठाधीश, शंकराचार्य भारतीकृष्ण-तीर्थजी महाराज और वर्णाश्रम स्वराज्य संघ वाले। रावलपिंडी में शास्त्रार्थ ठन गया। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता था। मैं अपने विशेष मित्र —महामहोपाध्याय श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी को उस दल में से ले आया—बाबू के पास, अपने निवास-गृह में। सन्धि-चर्चा चल पड़ी। मैंने देखा—बाबू ने चतुर्वेदीजी का इतना स्वागत-सत्कार किया कि उनका हृदय भी बाबू को मान गया। बात तो वात्सल्य की कहनी थी—मैं भी कहाँ बहका! मैं भोजन दिन या रात में—तब—देर से कहता था। बाबू की आज्ञा थी रसोइया को—'गर्म फुलके ही खिलाना!' वह बेचारा घण्टों मेरी प्रतीक्षा में बैठा रहता था। मैंने उससे कहा भी; तो उसने कहा—'बाबू नाराज़ होंगे!'—कहिये—था न यह वात्सल्य!

तो उस दिन, दोपहर बाद, चतुर्वेदीजी को भी मैंने अपने साथ पक्का भोजन कराया—वह शास्त्रार्थ धरा रह गया, और जनता ने एक सीमा तक हरिजनों

को देवदर्शन कराने की बाबू की बात हृदय में धारण कर ली।

हरिजन और देवदर्शन

सनातन-धर्म की नीति और राजनैतिक कूटनीति में उस समय युद्ध-सा चल रहा था। बंग-भंग आन्दोलन के पश्चात् उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों में फूट डालने वाली नीति अपनायी थी—किन्होंने ? अँगरेजों ने। हिन्दू-मुसलमान फूट के लिए उन्होंने चुना—सर सैयद को, सर शफ़ात को, और अन्त में जिन्ना साहब को। इधर डा० अम्बेदकर को पकड़ा—हिन्दुओं से हरिजनों को पृथक् करा देने को। यही समय था कि महामना ने सर शफ़ात से भी रस्म बढ़ाया और हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश को भी एक सीमा तक मान लिया। उधर यह भी तो हो रहा था कि ईसाई मिशनरी संस्थाएँ हरिजनों को ईसाई बना रही थीं और मौलाना उन्हें मुसलमान बना रहे थे। उस समय स्वामी श्रद्धानन्द के शुद्धि-आन्दोलन को भी कुछ हद तक महामना ने स्वीकार कर लिया था। कई दिन महामना के ऐसे भी व्यतीत हुए हैं कि सुबह से शाम तक असंख्य हरिजनों को 'ॐ नमो नारायणाय' का मन्त्र दिया है। फिर शाम को कपड़े बदल कर—नहाकर—भोजन किया है। मैं जब सोचता था—कितने ऊँचे हैं मेरे बाबू ! राजनीति भी निभा रहे हैं, और धर्मनीति भी !

मैं प्रायः यह विचार करता था कि देश में एकता नहीं है। नेता लोग अपना-अपना दल बनाये हुए हैं। राजनीति में ही क्यों, हिन्दी-जगत् में भी यही दशा है—अजी सनातन-धर्म तक में भी। एक अवसर पर मुझे भारत-धर्म महामण्डल वालों ने बुलाया। उन्होंने इसलिए बुलाया कि मेरी कथा की विज्ञप्ति से जनता की थोड़ी भीड़-भाड़ हो जाय; और मैं इस भावना से गया कि मण्डल के महाराज से कहूँ कि एक ही अखिल भारतवर्षीय सनातन-धर्म सभा रहे। तब काशी ही में इसी नाम की तीन सभाएँ थीं—जिनको सम्पूर्ण भारत की बताया जाता था। सुबह के तीसरे पहर तक मैंने मण्डल के महाराज से तीन बार भेंट की, और एकीकरण का रोना रोता रहा। वे मेरे विचार से सहमत तो बराबर होते रहे—परन्तु लिखित सहमति नहीं दी। दे देते तो मैं दूसरे दो सभा वालों को भी सहमत करने की भरपूर चेष्टा करता ! अन्त में हताश होकर तीसरे पहर की अपार भीड़ में मैंने अपनी कथा तो नहीं कही—यह

व्यथा ही कही। उत्सव भी आगे न चला। मैं भागा हुआ सीधा महामना के पास (विश्वविद्यालय में) पहुँचा। मुझे देखते ही वे बहुत गर्म हुए—भाव यह था—किन लोगों में चले गए थे! ऐसे थे महामना—जिन्हें बहुत ही निकट का बना लेते, उन्हें डाँटते भी खूब थे। वह तो यह कहिये कि उसी समय एक शास्त्रीजी आ गए, जो उस उत्सव में थे। उन्होंने कहा—"महाराज, इन्होंने वहाँ अंगद की तरह पाँव जमाया था।" इतने में 'आज' अखबार आ गया—जिसमें मेरा पूरा भाषण था। तब कहीं नर्म हुए महामना। उनका ऐसा स्वभाव भी था, इसीलिए मैंने यह घटना लिखी है।

विश्वविद्यालय का पञ्चांग मेरे प्रस्ताव पर प्रकाशित हुआ था। मैं उसे हिन्दी में (संस्कृत के स्थान पर) प्रकाशित कराता—परन्तु कुछ शास्त्रियों के विपरीत कहने-सुनने से मैं चुप पड़ गया, यद्यपि महामना सहमत-से ही थे।

मैंने एक 'मालवीय-स्मृति' (आचार-संहिता) भी निकलवाने की बात स्वीकार करा ली थी। जिसमें सब संस्कार, त्योहार, व्रत, पूजा-पाठ आदि, प्राचीनता को निभाते हुए, आधुनिक रूप में प्रकाशित होते। दुर्भाग्य से मुझे ही उसका संयोजक बना रहे थे महामना। अनवकाश के कारण मैं लाचार था। यह इसलिए लिखा है कि अब भी ऐसी 'स्मृति' प्रकाशित हो जाय तो हिन्दू जाति का कल्याण हो।

अब तो प्रति वर्ष, सात-आठ बार काशी (बाबू के बँगले में) मुझे तार द्वारा बुलावा आते ही जाना पड़ता था। कोई न कोई सभा (छोटी-बड़ी) हो ही जाती थी—और समाचारपत्रों में उसका समाचार भेज दिया जाता था। यह भी तरीक़ा था, महामना का काम करने का। कथाएँ भी तब कहनी पड़ती थीं मुझे; 'अयोध्या-काण्ड' उन्हें अधिक प्रिय था। उसमें से भी केवट का प्रसंग, वाल्मीकि का राम को रहने के स्थान बताना और 'भरत-मिलाप'। छात्र ये 'कथाएँ' सुनें—ऐसा वे सदा चाहते थे। कथा नाम ही से बड़ा प्रेम था, मेरे बाबू को!

विश्वनाथ के दर्शन

एक वर्ष श्रावणी (सलूना) के सवेरे मैंने विश्वनाथ-दर्शन की आज्ञा माँगी तो बोले, "यहीं करायेंगे दर्शन।" अपने पूजा-घर में सवेरे से जो बोलना आरम्भ किया, तो दोपहर हो गया। ईश्वर-सम्बन्धी व्याख्या मैंने उनसे पहले कभी इतनी नहीं सुनी। महामना किसी विषय पर जब बोलते थे तो सर्वांगपूर्ण बोलते थे—यह भी मैंने उस दिन जाना। वक्ता-श्रोता दोनों उस रस-गंगा में, ज्ञान-गंगा में एक साथ जैसे नहा रहे हों। बीच-बीच में कह पड़ते थे, "क्यों हुआ विश्वनाथ का दर्शन?" मुझे 'हाँ' कहनी पड़ती थी। एक दोहा तो उन्हीं का बनाया हुआ, मैंने कण्ठस्थ-सा कर लिया तभी :

एक अनन्त त्रिकाल सच चेतन शक्ति दिखात।
सिरजत पालत हरत जग महिमा बरनि न जात॥

मैं अब इस दृढ़ विचार का बन गया था कि एकता (संगठन) ही बड़ी वस्तु है, महामना ही की कृपा से। उन्हीं से विचार-विमर्श के पश्चात्। 'कुछ तो हो' इस बेचैनी ने मुझे एक पथ दिखाया—गौड़-महासभा के अधिवेशनों में मैं वर्षों से जाया करता था। मुजफ्फरनगर के अधिवेशन में मैंने यह प्रस्ताव पारित करा ही लिया—सर्वसम्मति से, कि 'सम्पूर्ण ब्राह्मणों की रोटी-बेटी एक हो जाय।' अब आवश्यकता पड़ी कि एक अखिल भारतीय ब्राह्मण-अधिवेशन हो—और वहाँ भी यह पारित (पास) हो। उसके लिए महामना की छत्रछाया चाहिए। मुझे ही यह कार्य सौंपा गया। मैं वह प्रस्ताव लेकर महामना की सेवा में (प्रयाग) पहुँचा। महामना तब 'कायाकल्प' में बैठने वाले थे। तब मैंने देखा कि महामना विचार अधिक करने लगे हैं, और अब तुरन्त 'हाँ' नहीं कहते। मैंने भी सब बातें उनके सामने रखकर उसी समय 'हाँ' नहीं करायी। बात भी तो बड़ी थी—काशी (विश्वविद्यालय) में—उन्हीं के सभापतित्व में—सभी प्रान्तों के ब्राह्मण बुलवाने थे। इसके लिए एक मास का समय चाहिए। ऐसा करने में 'कायाकल्प' एक मास रुक सकता था। कमजोर बहुत थे ही बाबू। शाम को मैंने भाई रमाकान्त के पास बैठकर सारा नक़शा बनाया। मैं अभी से काशी में बैठकर प्रचार करूँ, सब जगह पत्रादि भिजवाऊँ, अधिक से अधिक ब्राह्मणों को बाहर से बुलवाऊँ, उनके रहने-खाने

का प्रबन्ध करूँ। और भाई रमाकान्त! वे थोड़े दिन बाद, आराम से, बाबू को लेकर काशी पहुँचें और फिर प्रबन्ध में मेरे साथ जुटें। दूसरे दिन सवेरे, हम दोनों ने, बाबू को राजी कर लिया। हम दोनों ने बाबू को राजी किया! हरे-हरे! यह बाबू के हृदय की ब्राह्मण-संगठन वाली वह आग थी—जो कमज़ोरी और उस कायाकल्प की जल-वृष्टि से भी न बुझ सकी। मैंने वह बिजली देखी—

मिटती नहीं मिटाये से यह ऐसी लाग है—
बादल के भी हृदय में मोहब्बत की आग है।

अखिल भारतीय ब्राह्मण अधिवेशन काशी में हुआ—और सर्व-सम्मति से—'सब ब्राह्मण एक' बना दिये गए। मेरे और भाई रमाकान्त के हर्ष का ठिकाना न था। दूसरे दिन उस हर्ष को मनाने में जो मेरी कथा हुई, वैसी कम ही हुई थी—विश्वविद्यालय में। उसी का नतीजा यह हुआ कि कट्टर मालवीय ब्राह्मणों के सम्बन्ध गौडों, सनाढ्यों आदि में होने लगे। और मेरे परिवार में तो सारस्वतों तक से। अब तो रास्ता और भी आगे खुल गया है। यह थी देन महामना की ब्राह्मण जाति के लिए। मेरा सम्बन्ध अब बहुत बढ़ चुका था। छोटे-छोटे संस्मरण इतने हैं कि उन्हीं की एक पोथी बन जाय। इस लेख को भी शायद बहुत बढ़ा चुका हूँ। अतः अब एक ही बात और लिखकर समाप्त करता हूँ।

दीक्षा

कथाएँ, नाटक-लेखन, निर्देशन, प्रेस-संचालन आदि कार्यों ने मुझे इतना थका दिया था कि मैं अपनी ५० वर्ष की आयु में अवकाश ग्रहण करना चाहता था। हमारे यहाँ परम्परा है—गुरु-मंत्र लेने की। मुझे महामना से यह 'दीक्षा' लेने की उमंग बढ़ी। उनके यहाँ 'दीक्षा' देने की परम्परा थी नहीं, कई बार की भेंटों के बाद स्वीकृति मिल सकी। इन नियमों पर—(१) कथा का चढ़ावा नहीं लूँगा; (२) घर की चल-अचल सम्पूर्ण सम्पत्ति पुत्र-पौत्रादि को 'हिबह' कर दूँगा—अपने खर्च को केवल 'रायल्टी' रक्खूँगा, 'भिक्षा' नहीं माँगूगा; (३) कम से कम वस्त्र पहनूँगा; (४) सादा (सात्त्विक), थोड़ा

भोजन करूँगा ; (५) बरेली कम रहूँगा; (६) स्त्री को साथ रक्खूँगा—पर —वानप्रस्थी की भाँति; (७) धर्म-प्रचार करूँगा; (८) भजन करूँगा ।

'दीक्षा' के लिए ७ फरवरी १९४० ई० की तिथि निश्चित हुई—प्रयाग ही में । मैं सपत्नीक दो दिन पहले ही पहुँच गया । महामना न मिले । तुरन्त ही हम काशी चल पड़े—वहाँ भी न मिले । तब ऐक्सप्रेस से कलकत्ता (बिड़ला-भवन) गये । वहाँ सुना—महामना प्रयाग गये । ७ तारीख को वहाँ उनकी आवश्यक उपस्थिति है ।"—हाय रे हम ! घबराहट में कैसे-कैसे भागे-भागे फिरे ! और वाह रे बाबू—निश्चित तारीख और समय पर प्रयाग उपस्थित हैं ! कैसे अडिग थे अपने वचन और प्रोग्राम के महामना !

'दीक्षा' के समय हमने दो टोकरी फल, दो कश्मीरी शाल, दो गिन्नी भेंट कीं । फल रख लिए—शालें हम दोनों को उढ़ा दीं । गिन्नियाँ सनातन धर्म सभा में भिजवा दीं । हैं कहीं ऐसे त्यागी गुरुदेव ? देखे क्या, सुने भी नहीं हमने । पंजाब में गोस्वामी गणेशदत्त जी को जब यह मालूम हुआ, तो वे भी 'दीक्षित' हुए—इसके अतिरिक्त कोई और सम्भवतः नहीं हुआ । हुआ हो तो मुझे खबर नहीं ।

अब गुरुदेव की आज्ञानुसार मैं धर्मप्रचार में रत हुआ । सम्पूर्ण बिहार, आधा उत्तरप्रदेश और आधा राजस्थान, कुछ पंजाब, कराची तक । बीच-बीच में उनके पास आता था—रिपोर्ट देता था, परामर्श लेता था । आदमी को पकड़ना, सिखाना, काम लेना—यह गुण अद्वितीय था उनमें । सारी रात जागने की आज्ञा नहीं थी । स्वच्छता बहुत प्रिय थी । कठोर वचन अप्रिय थे । सरलता प्यारी थी । वाणी और लेखनी की कलाएँ खूब सिखाते थे । एक-एक वाक्य तुला-नपा हो, उच्चारण उत्तम हो । लिखने में एक-एक लाइन सोची हुई हो, भाषा उसके अनुकूल हो, व्यर्थ की शब्दावली का आडम्बर न हो । मुझे खूब याद है—भाई कृष्णकान्त को 'अभ्युदय' का सम्पादक बनाकर उन्होंने प्रथम श्रेणी का लेखक बना दिया था ।

उनके शिवलोकवासी हो जाने पर मेरे सामने अँधेरा-सा छा गया । उनके एक बड़े चित्र की पूजा कर लेता हूँ । एक पुस्तक 'राधेश्याम-गीतावली' भी उनकी अमर आत्मा को समर्पित की है ।

इधर रुग्ण हूँ। प्रिय पद्मकान्त के दो पत्र मिलने पर ये थोड़े-से संस्मरण लिख दिए हैं—बिना भाषा को सजाये। गुरुदेव की शताब्दी पर कुछ पत्र-पुष्प भेंट करना भी तो धर्म था। अब एक गीत लिखकर—इसे पूरा करता हूँ—

गुरु-वन्दना

छोड़ सकल खटराग—मन, गुरु-आश्रम चलिये !
विषय-वासना त्याग—मन, गुरु-आश्रम चलिये !
गुरु बिन किसको ज्ञान मिला है ?
सूर्य बिना कब कमल खिला है ?
लेने पद्म पराग—मन, गुरु-आश्रम चलिये !
भव-भोगों की दवा यही है—
सब रोगों की दवा यही है—
लाग लगे—बेलाग—मन गुरु-आश्रम चलिये !
पहले 'गुरु' का नाम उचारो—
तब कुछ 'राधेश्याम' विचारो—
काशी हो या प्रयाग—मन गुरु-आश्रम चलिये !

गुरुदेव की १५वीं
पुण्य-तिथि
का० शु० ४, सं० २०१८
१२-११-६१

—राधेश्याम कथावाचक

महामना की प्रतिच्छाया—'अभ्युदय'

'अभ्युदय' के सम्बन्ध में लिखते हुए मुझे हर्ष होता है। उसका और मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मैं सदा उसे पढ़ा करता था और एक मुद्दत तक मुझे उसकी सेवा करने का भी सौभाग्य मिला है। हिन्दी भाषा-भाषी लोगों में, विशेष कर गाँववालों में, जब कभी अखबार का जिक्र होता है, तब वे 'प्रताप' और 'अभ्युदय' का नाम ले लेते हैं; मानो 'प्रताप' और 'अभ्युदय' हिन्दी में अखबार के पर्यायवाचक शब्द हों। इसमें बहुत-कुछ सच्चाई भी है। वास्तव में इन दोनों पत्रों ने देश में राष्ट्रीय जागृति फैलाने, दीन-दुखियों के दुःख प्रकट करने और प्रजा का पक्ष-समर्थन करने का जो महान् कार्य किया है और उसके लिए जो कष्ट सहे हैं, उससे ये जनता के सगे हो गए हैं।

मुझे इन दोनों ही पत्रों की सेवा करने का अवसर मिला है—'प्रताप' में प्रायः दो वर्ष तक कार्य करने के बाद सन् १९२२ में दैनिक 'नवयुग' में काम करने प्रयाग आया। कुछ दिनों तक 'नवयुग' निकालने के बाद उसके संचालकों ने उसे बन्द कर दिया। उस समय श्रद्धेय पंडित कृष्णकान्तजी ने मुझे अपने पास बुला लिया। सन् १९२३ से सन् १९२९ तक सात साल मैं 'अभ्युदय' का सहकारी सम्पादक रहा। इन दिनों में 'अभ्युदय' ने देश की, हिन्दी की और हिन्दू-जाति की क्या-क्या सेवाएँ कीं, इसे बताने की मुझे आवश्यकता नहीं। इसे हमारे देशवासी अच्छी तरह जानते हैं। इस लेख में मैं यही बताना चाहता हूँ कि इन सात सालों में मैंने 'अभ्युदय' में क्या देखा।

निःस्वार्थ, निर्भीक और नम्र

शुरू से अन्त तक मुझे 'अभ्युदय' पर पूज्य मालवीयजी और श्रद्धेय पंडित कृष्णकान्तजी मालवीय के महान् व्यक्तित्व की छाप दिखायी दी। उन दिनों पंडित कृष्णकान्तजी इसके सम्पादक थे। पंडितजी का जैसा जीवन

और हृदय रहा, 'अभ्युदय' सदा निःस्वार्थ, निर्भीक और नम्र रहा। इसने अपनी मर्यादा को कभी हाथ से नहीं जाने दिया। जिस बात में इसने जनता का हित देखा, उसे कहा, ज़ोरों से कहा और बेखटके कहा। कर्तव्य-पालन में इसने कभी लोकप्रियता अथवा अप्रियता का विचार नहीं किया।

उपलेवाली की इज्जत

अमीर और ग़रीब 'अभ्युदय' की निगाह में सदा समान रहे। इसने कभी ग़रीबों पर अमीरों के अत्याचारों को सहन नहीं किया। देशी राज्यों की प्रजा का पक्ष-समर्थन और किसानों की हिमायत तो इसकी मशहूर है ही, इसने एक गरीब उपलोंवाली तक की इज्जत की रक्षा के लिए हलचल मचा दी।

शिष्टाचार को 'अभ्युदय' ने कभी नहीं छोड़ा। यद्यपि इसकी 'सीधी-टेढ़ी खरी मजेदार बातें' चोखी चुटकियाँ होती थीं, तथापि वे अशिष्ट कभी नहीं होने पाईं और उनका उद्देश्य भी दूसरों का सुधार ही रहा—निन्दा नहीं। अपने सहयोगियों और विरोधियों, दोनों के ही साथ 'अभ्युदय' का बर्ताव सज्जनतापूर्ण रहा। एक बार आगरा के एक पत्र में और 'अभ्युदय' में वाद-विवाद चला। 'अभ्युदय' ने बराबर उसकी बातों का उचित उत्तर दिया, किन्तु आगरा का पत्र साधारण शिष्टाचार को भी क़ायम न रख सका, और उचित-अनुचित सब लिखने लगा। यह देखकर पंडित कृष्णकान्तजी ने उसकी उपेक्षा कर 'अभ्युदय' में उसकी बातों का उत्तर देना ही छोड़ दिया। इसी प्रकार प्रयाग से हिन्दी का एक दैनिक पत्र निकला था। वह पत्र टोपी उछालता था, और गाली बकने वाला था। 'अभ्युदय' से तो उसे मानो चिढ़ थी। 'अभ्युदय' ने उसकी बिल्कुल उपेक्षा की और कभी अपने कालमों में उसका नाम तक नहीं आने दिया।

हृदय की भाषा

'अभ्युदय' की अन्य विशेषताएँ उसके सम्पादक की विशेषताएँ थीं। पंडित कृष्णकान्तजी हिन्दी के एक प्रधान पत्रकार थे। उनका राजनीतिक और सामाजिक ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वह जनता की रुचि और आवश्यकता

को पहचानते थे। हिन्दी के टकसाली लेखक थे। उनके लिखने का अपना ढंग था, उनकी अपनी शैली थी। उनकी भाषा में सादगी, प्रवाह, जीवन और आकर्षण था। 'अभ्युदय' उन्होंने उसी भाषा में निकाला और हम लोगों से सदा बोल-चाल की भाषा में लिखने को कहा। उन्होंने जो लिखा हृदय के साथ लिखा और अपने सहायकों को भी हृदय रखने का आदेश किया। एक बार कहीं, मुझे स्मरण नहीं रहा कहाँ, किसी पर अत्याचार हुआ था; अधिकारियों को उसकी जानकारी होते हुए भी उन्होंने अकर्मण्यता दिखायी। मैंने उस समाचार को बिना किसी टिप्पणी के 'अभ्युदय' में प्रकाशित कर दिया। उस समय पंडितजी शिमला में थे। उन्होंने वहाँ 'अभ्युदय' देखा और मुझे पत्र में लिखा·······"सम्पादक के हृदय होता है, वह महज़ समाचार छापने की मशीन नहीं है। आपको उस समाचार पर एक कड़ा नोट लिखना चाहिए था।" इसी प्रकार उन्होंने सदा हम लोगों का पथ-प्रदर्शन किया।

अपने सहकारियों के साथ तो 'अभ्युदय' सम्पादक का जो व्यवहार रहा, उसे 'आदर्श' ही कहा जा सकता है। कभी किसी के लिए उन्होंने कड़वी बात तक मुँह से नहीं निकाली। सदा उनके साथ प्रेम-पूर्वक बर्ताव किया और जीवन में उन्हें आगे बढ़ाने में भरसक सहायता दी। मेरे ऊपर तो उनकी विशेष कृपा रही। मुझ पर उन्होंने पूरा-पूरा भरोसा भी किया और लिखने की पूर्ण स्वतन्त्रता भी दी।

'काम वटी' और 'ज्वर वटी'

मैं ऊपर कह आया हूँ कि पंडित कृष्णकान्तजी को 'अभ्युदय' की मर्यादा का बहुत खयाल रहता था। जिस प्रकार पंडितजी को, उसी प्रकार पूज्य मालवीयजी को भी इसकी मर्यादा की चिन्ता रही। उन्हें देश के इतने अधिक काम रहते थे कि 'अभ्युदय' पढ़ने की फ़ुर्सत कहाँ; पर जब कभी 'अभ्युदय' उनके हाथ पड़ जाता, वे उसे बड़े ध्यान से देखते थे। एक बार उन्होंने दैनिक 'अभ्युदय' की कुछ प्रूफ-सम्बन्धी अशुद्धियाँ शुद्ध करके तथा स्वर्गीय पंडित शिवराम जी पांडेय के 'कामवटी' के विज्ञापन को निकाल उसके स्थान पर उनके 'ज्वरवटी' का विज्ञापन छापने को लिखकर 'अभ्युदय' मेरे पास भेज दिया। इसी प्रकार 'आगरा लगान क़ानून' बनने के दिनों में मुझसे एक बार

कहा, "देखो, 'अभ्युदय' में किसानों के हित की बातें अच्छी तरह देना !"

मेरा यह लेख अधूरा रह जायेगा यदि मैं यहाँ पर 'अभ्युदय'-सम्पादक पंडित कृष्णकान्तजी के सुपुत्र प्रियवर पंडित पद्मकान्तजी की 'अभ्युदय'-सम्बन्धी दिलचस्पी का जिक्र न करूँ। उन्हें बचपन ही से सम्पादन-कला में रुचि रही है। इस कला की उन्हें पैतृक सम्पत्ति भी प्राप्त है। 'अभ्युदय' के सम्बन्ध में उनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत है। अब भी वे ही 'अभ्युदय' में सबसे अधिक दिलचस्पी ले रहे हैं। आशा है, 'अभ्युदय' का उनके द्वारा और भी अभ्युदय होगा।

—सत्यव्रत

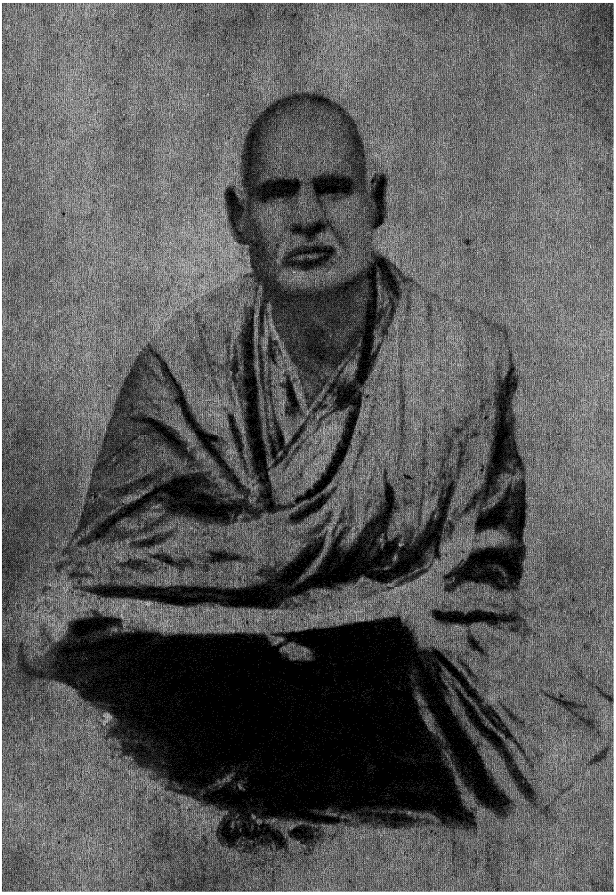

महामना के पूज्य पिता चतुर्वेदी पं० ब्रजनाथ जी मालवीय

महामना की पूजनीया माता श्रीमती मूनादेवीजी

महामना के गुरु पं० आदित्यराम भट्टाचार्य

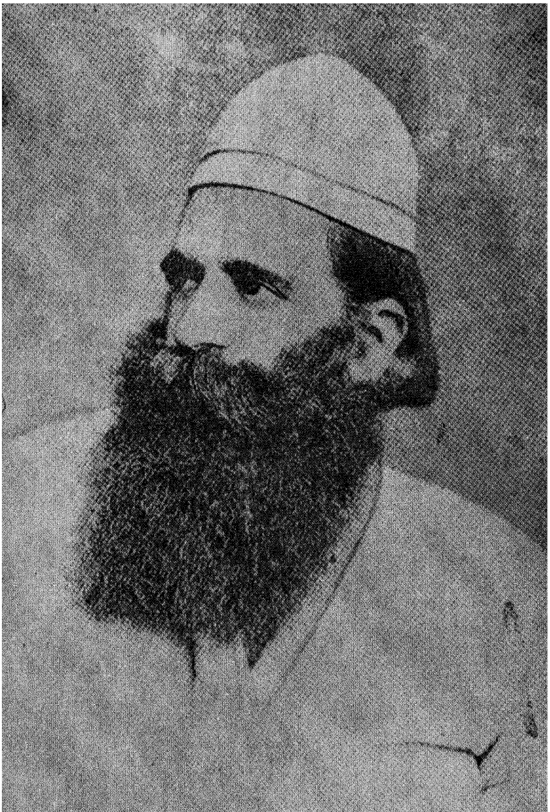

महामना के राजनीतिक गुरु पं० अयोध्यानाथ कुंजरू

युवक महामना

महामना :
वकील के वेश में

५० वर्ष की आयु में महामना

६० वर्ष की आयु में महामना

७५ वर्ष की आयु में महामना

८५ वर्ष की आयु में महामना

महामना की धर्मपत्नी श्रीमती कुन्दनदेवीजी

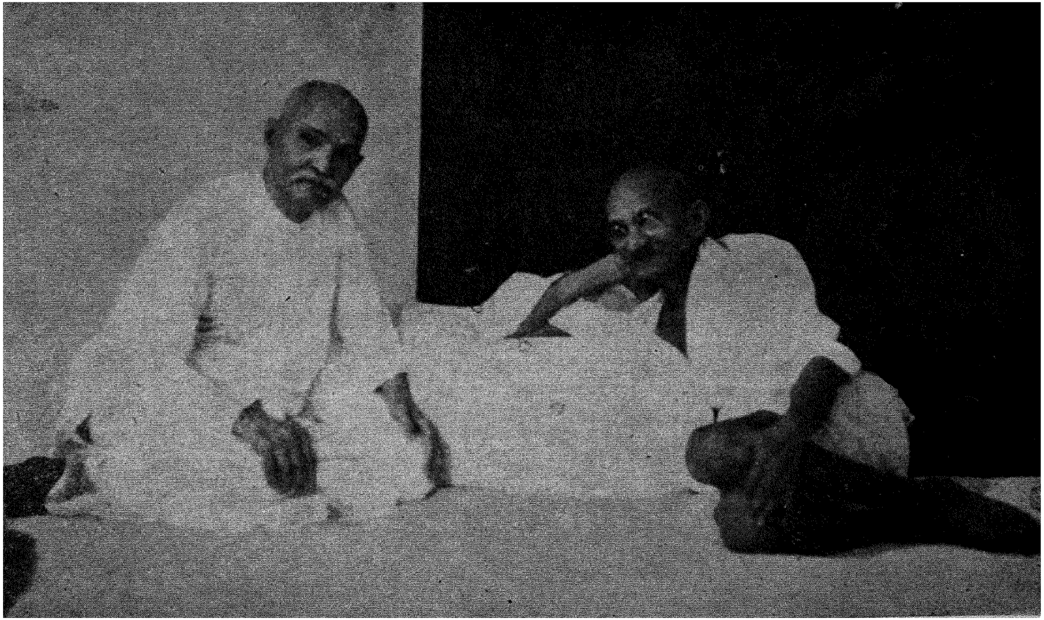

महामना और महात्मा

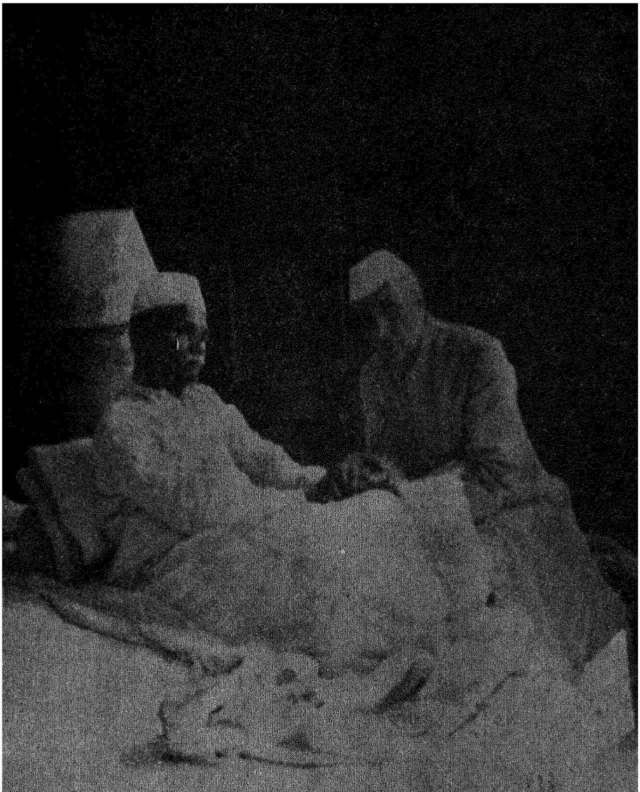

महामना और पं० जवाहरलालजी नेहरू

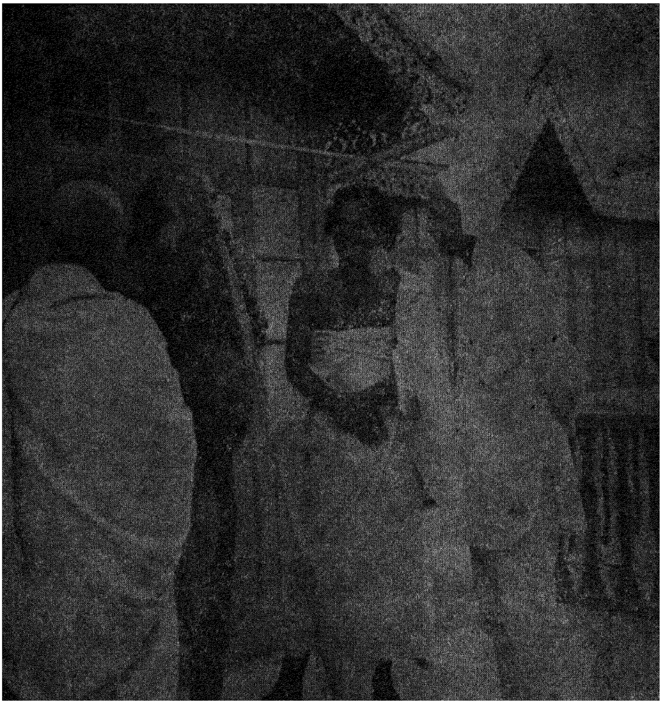

मसूरी में उत्तराखण्ड के तपस्वी अवधूत केशवानन्द से वार्तालाप

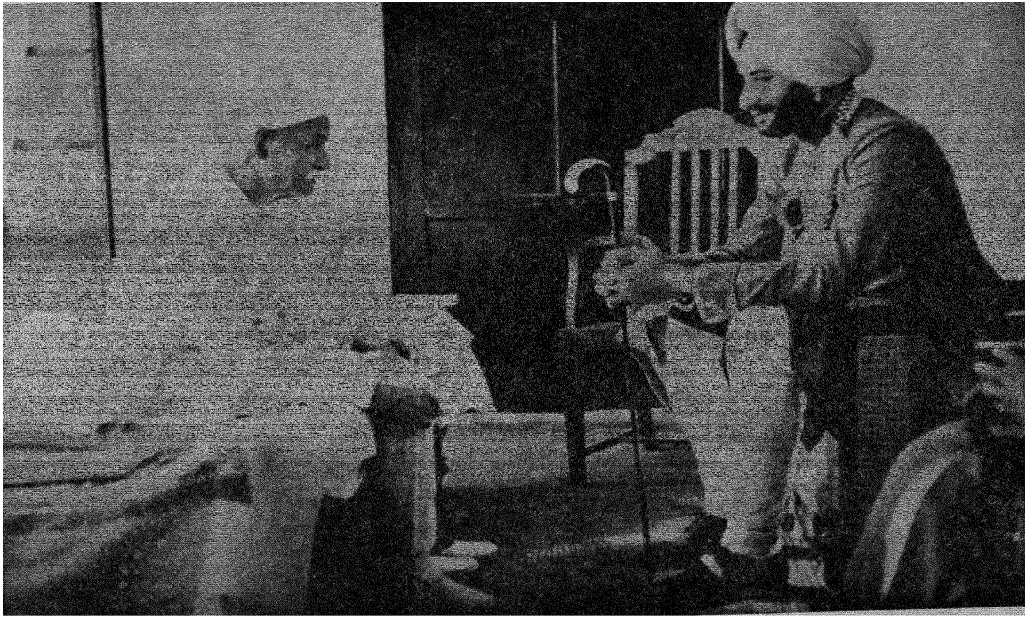

महामना श्रौर पटियाला नरेश

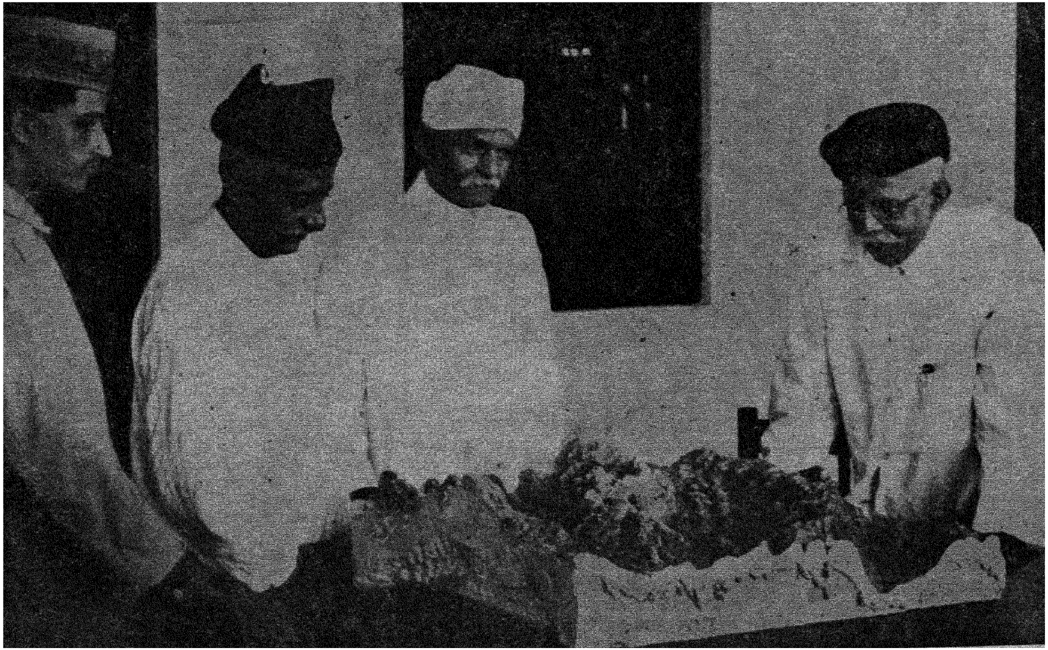

भारतमाता मन्दिर में आचार्य बापू भाई ध्रुवै के साथ महामना

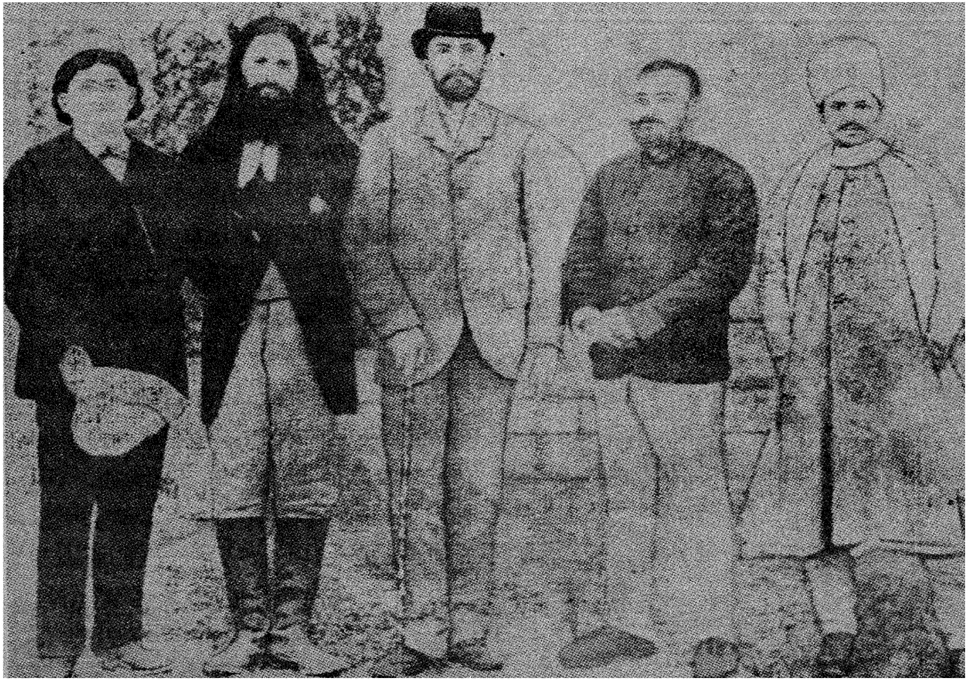

सन् १८८८ की इलाहाबाद कांग्रेस में : बाएँ से : राजा रामपाल सिंह, कै० वेनन, श्री ह्यूम, श्री चारुचन्द मित्र और महामना

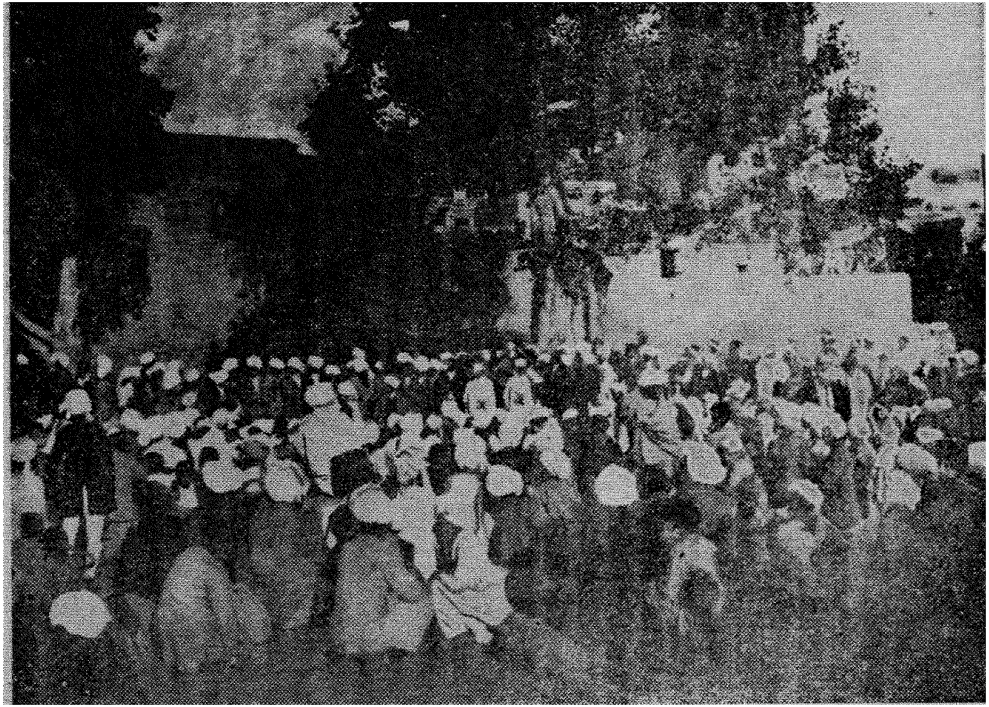

जलियाँवाला बाग में हत्याकांड की जाँच : मध्य में महामना, बाईं ओर महात्मा गांधी खड़े है

अमृतसर कांग्रेस में लोकमान्य तिलक, पं० मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानन्द और श्रीमती एनी वेसंट के साथ महामना। ऊपर से दूसरी पंक्ति में खड़े हुए बाएँ से दूसरे महामना के भतीजे और उनके 'राजनीतिक-पुत्र' के नाम से सुप्रसिद्ध स्वर्गीय पं० कृष्णकान्त मालवीय

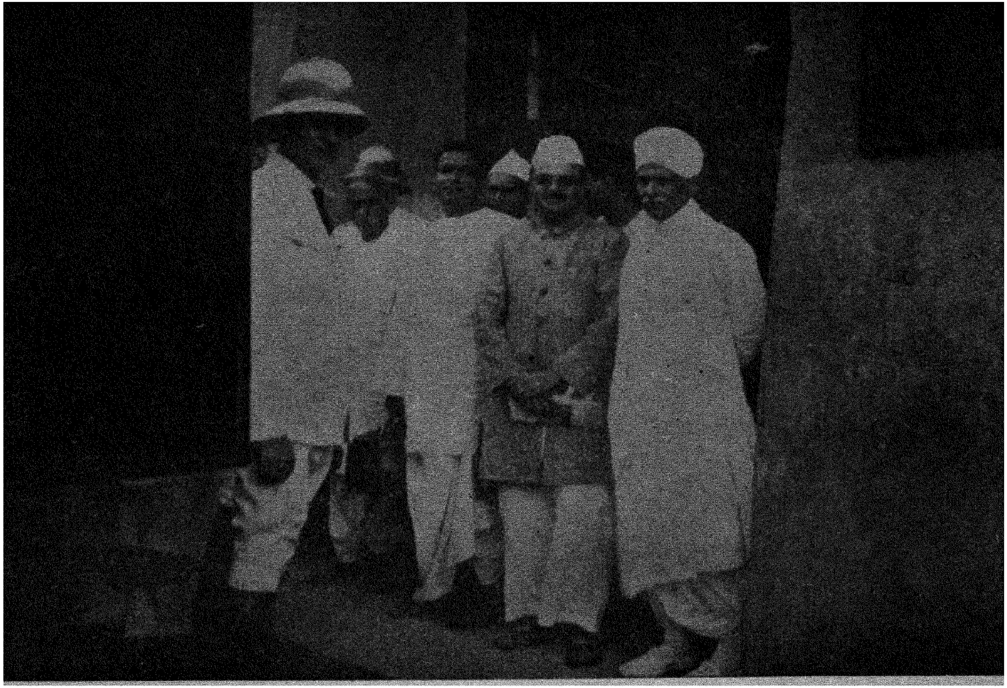

बम्बई जेल में महामना : श्री जयरामदास दौलतराम ग्रौर सरदार पटेल के साथ

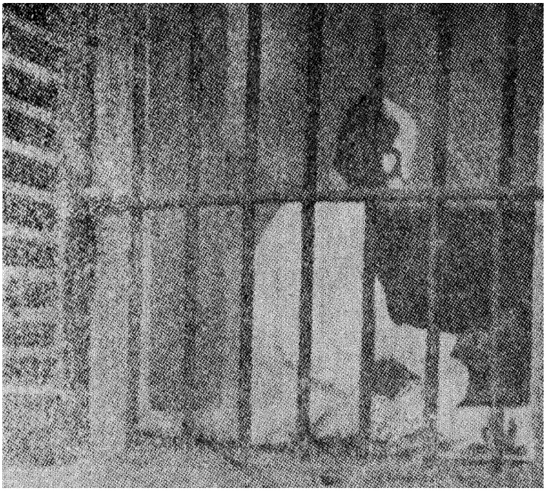

दिल्ली जेल में पूजा करते हुए महामना

लन्दन की राउण्डटेबल कांफ्रेंस के द्वार पर
श्री गोविन्द मालवीय सहित महामना

लन्दन में गोलमेज सम्मेलन में महात्मा गांधी श्रौर महामना मालवीय

अपनी अन्तिम दिल्ली यात्रा में गौशाला की सभा में जाते हुए महामना

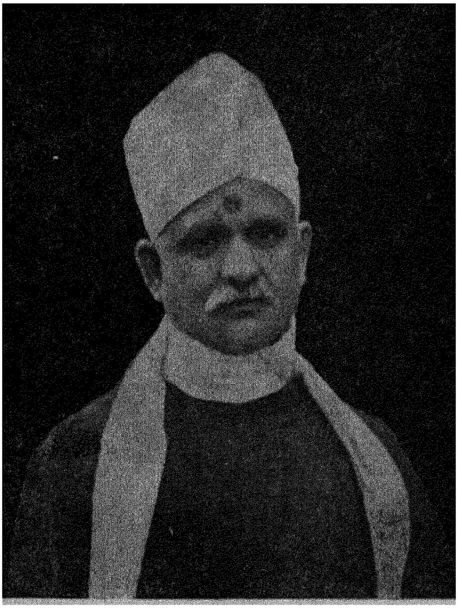

महामना के ज्येष्ठ पुत्र स्वर्गीय पं० रमाकांत मालवीय

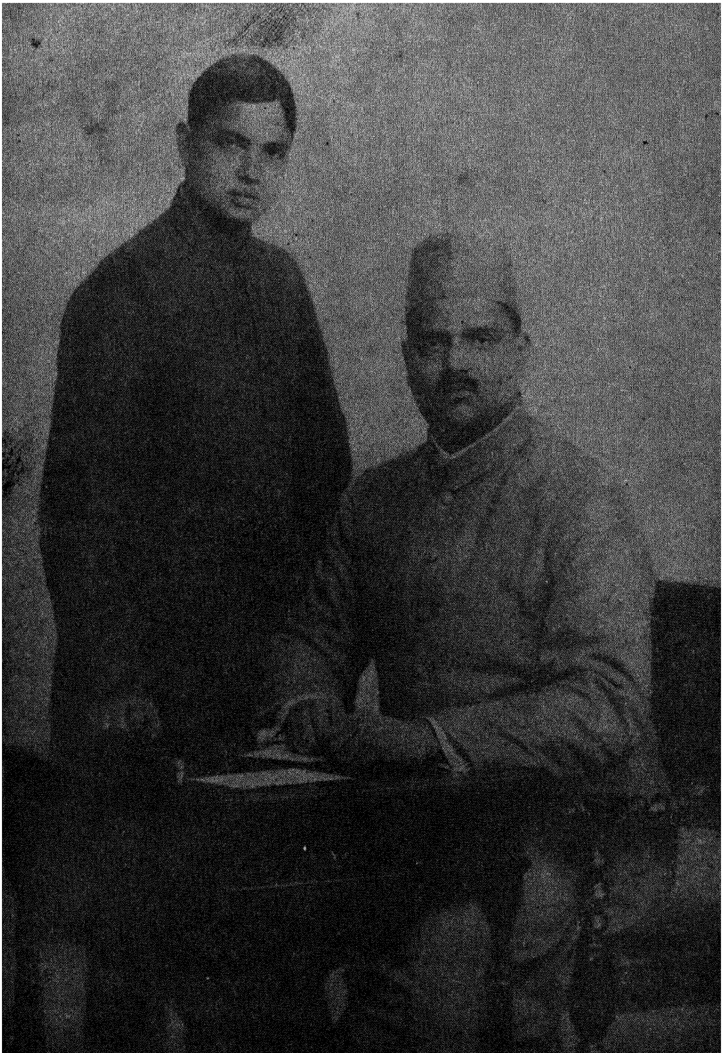

महामना के कनिष्ठ पुत्र श्री गोविन्द मालवीय, अपने परममित्र महात्मा गांधी के
कनिष्ठ पुत्र श्री देवदास गांधी के साथ

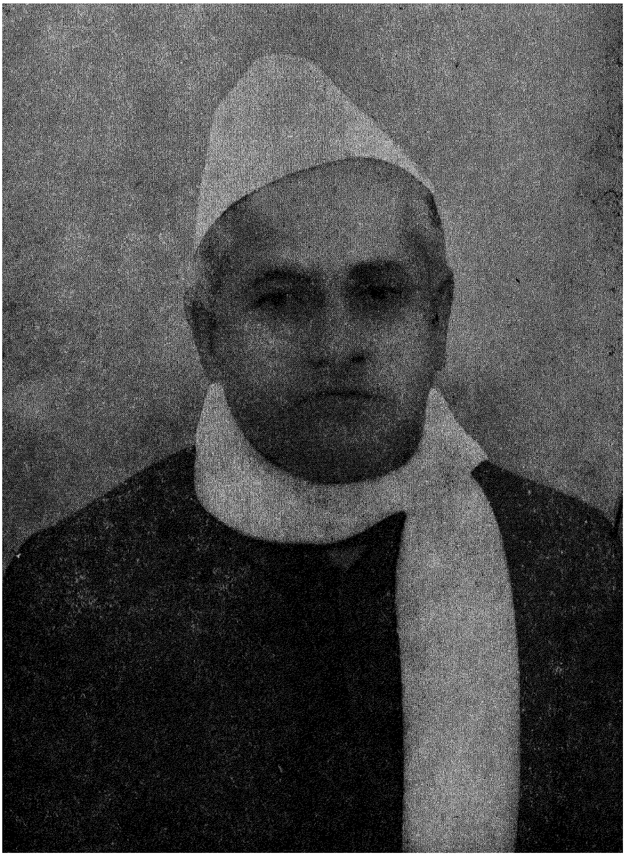

महामना के भतीजे तथा संग्रहकर्ता के पिता
स्वर्गीय पं० कृष्णकांत मालवीय

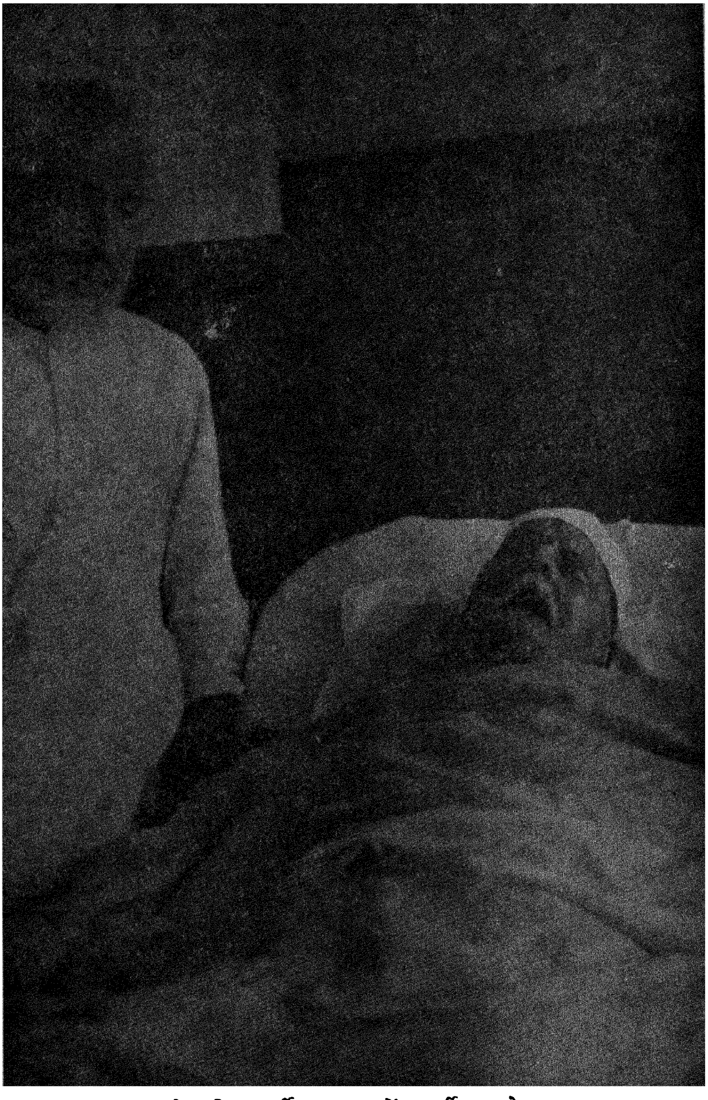

महामना की अन्तिम मूर्छितावस्था में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन

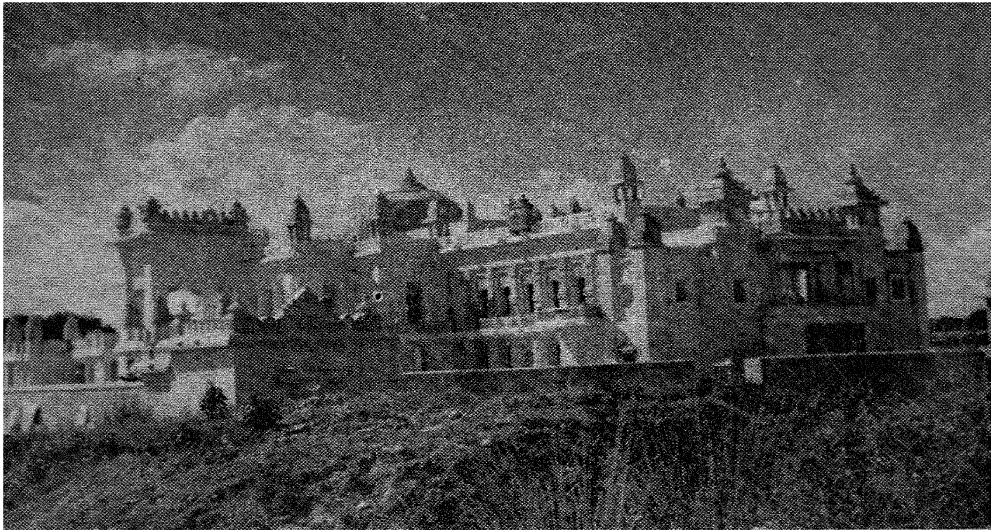

महामना की अंतिम आकांक्षा का मूर्तरूप विश्वविद्यालय में विश्वनाथ मंदिर